तुम्हारी वस्तु गोविन्द,
तुमको ही समर्पित।

निवेदन

हिन्दी में गीता का यह समश्लोकी अनुवाद पहला ही है। १९३२ ई० में मैंने जेल में यह अनुवाद किया था। परन्तु वह प्रति रेल में खो गई। अब यह दुबारा यत्न किया है। श्री विनोबा की मराठी 'गीताई' को सामने रखके मैंने यह अनुवाद किया है। गांधीजी के 'अनासक्तियोग' व लोकमान्य के 'गीता रहस्य' से भी अर्थ समझने में सहायता ली है। दुहराते समय श्री किशोरलाल भाई की गुजराती 'गीता ध्वनि' मिल गई, जिससे तरह-तरह की सहायता मिली है। इन सबको मैं प्रणाम करता हूँ।

आरम्भ के ५ अध्यायों को सँवारने में श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय ने जो परिश्रम किया है तथा श्री वियोगी हरिजी ने अन्तिम कूँची फेरकर इसे सजाने में जो बहुमूल्य सहायता की है उसके लिए इन मित्रों का मैं कृतज्ञ हूँ।

हिन्दी में अनुष्टुप् छन्द नया है। परन्तु गीता-पाठियों के लिए वह अपरिचित नहीं है। उन्हें हिन्दी में गीता-पाठ की सुविधा कराने के उद्देश्य से ही यह अनुवाद किया गया है। इसमें कहीं-कहीं प्रचलित व्याकरण के नियमों का उल्लंघन और उच्चारण की रूढ़ि का अवलम्बन करना पड़ा है। जैसे यह की जगह 'ये', वह की जगह 'वो', 'उसमें, उनमें, जिनमें, जिनको' की जगह 'उस्में', 'उन्में' 'जिन्में', 'उन्को' तथा 'होके', 'जाके', 'पै' आदि का प्रयोग किया गया है। अनुष्टुप् वर्णिक छन्द है। वर्णिक वृत्तों की रचनाओं

से परिचित सज्जन उनकी कठिनाइयों को भली प्रकार समझ सकते हैं। अतः आशा है कि वे इन प्रयोगों पर आपत्ति न करेंगे। 'यजना' जैसी कुछ नवीन क्रियाओं का तथा कुछ संस्कृत क्रियाओं के सरल रूपों का भी नये ढंग से इसमें अवलम्बन किया गया है। जैसे—अर्पण करना, अर्पना; स्मरण करना, स्मरना; निन्दा करना, निन्दना; वन्दना करना, वन्दना; आदि। सुविधा, सार्थकता और संक्षिप्तता के साथ ही नवीन शब्दों व रूपों के व्यवहार से हिन्दी माता का भाण्डार भरने का आशय भी इसमें रहा है।

साधारण पाठकों की सुविधा के लिए पाद-टिप्पणियों में, तथा पुस्तक के अन्त में कठिन शब्दों के अर्थ भी दे दिये गये हैं और प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में उसका संक्षिप्त आशय एवं शिक्षा भी दे दी है।

आशा है, हिन्दी के गीता-भक्तों को यह अनुवाद पाठ की दृष्टि से पसन्द आवेगा।

सब ही सत्य को सेवें, सभी निर्भय शुद्ध हों।
सभी कर्त्तव्य को पालें, हारें न शोक-दुःख से॥

हरिभाऊ उपाध्याय

राष्ट्रीय सप्ताह
अजमेर

विषय-सूची

हिन्दी-गीता

पहला अध्याय : अर्जुन-विषाद

[इस अध्याय में गीता की भूमिका बाँधी गई है । दोनों सेनाओं में अपने सगे-साथी व गुरुजनों को देखकर एकाएक अर्जुन के मन में यह ग्लानि पैदा होती है कि अरे, इन लोगों से लड़कर आखिर मुझे क्या मिलेगा ? और अन्त को श्रीकृष्ण से यह कहकर रथ में बैठ गया कि मैं यह लड़ाई नहीं लड़ूँगा। अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ऐसी शंका या मोह जीवन में मनुष्य को अक्सर होता है । इसी कशमकश या दुविधा की झलक पाठक अर्जुन के इस अध्याय के उद्गारों में देखेंगे ।]

धृतराष्ट्र

पवित्र जो कुरुक्षेत्र वहां युद्धार्थ आ जमे—
मेरे व पाण्डु-पुत्रों ने कहो, संजय, क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय

देख के पाण्डवी सेना व्यूहबद्ध, सुसज्जित,
बोला आचार्य से जाके तब राजा सुयोधन—॥ २ ॥

दुर्योधन

देखिए, पाण्डु-पुत्रों की सैन्य के व्यूह को गुरो,
रचा जो आपके दक्ष शिष्य द्रुपद-पुत्र[1] ने ॥ ३ ॥

1 धृष्टद्युम्न, द्रौपदी का भाई ।

यहाँ महा-धनुर्धारी भीम अर्जुन से बली।
विराट, सात्यकि, आदि द्रुपदेश महारथी ॥ ४ ॥
धृष्टकेतु, महाशूर काश्य औ चेकितान भी।
नरोत्तम तथा शैव्य पुरुजित् कुन्तिभोज का ॥ ५ ॥
उत्तमौजा महावीर, युधामन्यु पराक्रमी।
सौभद्र,[1] द्रौपदी-पुत्र सब ही हैं महारथी ॥ ६ ॥

हमारे पक्ष के जो जो मुख्य नायक हैं यहां—
बताऊँ उनके नाम ज्ञानार्थ आपके गुरो ॥ ७ ॥
आप, भीष्म तथा कर्ण, संग्राम-विजयी कृप,
विकर्ण, आपका पुत्र, भूरिश्रवा, जयद्रथ ॥ ८ ॥
दूसरे कितने वीर युद्धज्ञ शस्त्र-सज्जित
अपने प्राण देने को मेरे हित तुले हुए ॥ ९ ॥
अगण्य[2] अपनी सेना, जो है भीष्माभिरक्षिता।
गण्य[3] है पाण्डवी सेना, किन्तु है भीम-रक्षिता ॥ १० ॥
मोर्चे अपने-अपने संभालो सावधान हो।
बचाओ भीष्म को सारे मिलके सर्व ओर से ॥ ११ ॥

संजय

उसको तब हर्षाते करके सिंहनाद-सा—
प्रतापी कुरु-दादा ने बजाया शंख जोर से ॥ १२ ॥
तुरन्त ढोल, शंखादि मारू-बाजे अनेक ही—
एक-साथ बजे जिससे हुआ घोष भयंकर ॥ १३ ॥

१ अभिमन्यु। २ जो न गिनी जा सके। ३ थोड़ी, जिसकी गिनती हो सकती है।

फिर तो श्वेत घोड़ों के रथस्थ कृष्ण-अर्जुन
दोनों ने अपने दिव्य बजाये शंख जोर से ॥ १४ ॥
'पाञ्चजन्य' मुरारी ने पार्थ ने 'देवदत्त' को।
तेजस्वी भीम ने फूंका शंख जो 'पौण्ड्र' नामक ॥ १५ ॥
'अनन्तजय' को फूंका कौन्तेय धर्मराज ने।
बजाये माद्रि-पुत्रों[1] ने 'सुघोष'-'मणिपुष्पक' ॥ १६ ॥
काशिराज धनुर्धारी, शिखण्डी-से महारथी,
विराट, धृष्टद्युम्न त्यों अपराजित सात्यकि[2] ॥ १७ ॥
राजा द्रुपद, सौभद्र, द्रौपदेयादि[3] ने तब।
बजाये अपने शंख सब ही ने पृथक्-पृथक् ॥ १८ ॥
घोष से जिनके घोर कौरवों का फटा हिया।
भूमि-आकाश में गूँज गर्जा वह भयंकर ॥ १९ ॥
देख के कुरु-वीरों की सैन्य के सुव्यवस्थित—
चलेंगे अब शस्त्रास्त्र, इतने में कपिध्वज—॥ २० ॥
गाण्डीव हाथ में लेके बोला श्रीकृष्ण से तब—

अर्जुन

दोनों ही सैन्य के मध्य मेरा रथ खड़ा करो, ॥ २१ ॥
जिससे देख लूं कौन युद्ध-हेतु सजे खड़े।
तथा संग्राम में आज किनसे जूझना मुझे ॥ २२ ॥
देखूं तो, उन वीरों को जूझने जो यहां खड़े,
दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्रों[4] का चाहते युद्ध में प्रिय ॥ २३ ॥

१ नकुल, सहदेव। २ युयुधान (श्लोक ४)। ३ द्रौपदी के पुत्र। ४ धृतराष्ट्र के पुत्रों का।

संजय

सुनके पार्थ की बातें हृषीकेश तुरन्त ही—
मध्य में सैन्य के दोनों ले आये रथ उत्तम ॥ २४ ॥
भीष्म-द्रोणादि को देख सामने जो डँटे हुए—
बोले वे—'देख लो पार्थ, कौरवों के सभी दल' ॥ २५ ॥

पार्थ ने तब क्या देखा—खड़े सारे रणोद्यत[1]
काका, मामा तथा मित्र, पुत्र, पौत्र, पितामह, ॥ २६ ॥
भाई, आचार्य भी देखे, देखे श्वसुर भी वहां।
देखके इन सारे ही स्वजनों को उपस्थित—॥ २७ ॥
अत्यन्त करुणाग्रस्त खिन्न हो पार्थ ने कहा—

अर्जुन

देखके सामने कृष्ण, स्वजनों को रणोत्सुक—॥ २८ ॥
होता शिथिल सर्वांग हो रही जीभ शुष्क-सी।
काँपते गात्र हैं सारे, होता रोमांच अंग में ॥ २९ ॥
गाण्डीव छूटता मेरे हाथ से, जलती त्वचा।
खड़ा नहीं रहा जाता, मानों चक्कर आ रहा ॥ ३० ॥
गोविन्द, दीखते सारे ये विपरीत लक्षण।
देखता मैं न कल्याण मार के स्वजनादि को ॥ ३१ ॥

मुझे जय नहीं इष्ट, सुख वा राज्य भी नहीं।
प्रयोजन मुझे है क्या जीने से, राज्य-भोग से ? ॥ ३२ ॥
चाहिए जिनके हेतु राज्य-भोग सुखादिक,
आये वे छोड़के आशा युद्ध में प्राण-वित्त की ॥ ३३ ॥

१ लड़ने के लिए तैयार।

ताऊ, चाचा, सगे, साथी, नाती, बेटे सभी यहाँ ।
दीखते ससुरे, साले, गुरु, वृद्ध, पितामह ॥ ३४ ॥
न मारना इन्हें चाहूं, चाहें ये मार दें मुझे ।
न छुऊँ विश्व साम्राज्य, पृथ्वी की तो बिसात क्या ? ॥ ३५ ॥
मारके कौरवों को भी मिलेगी कौन-सी खुशी ?
आततायी हुए तो भी हमको पाप ही लगे ॥ ३६ ॥
अतः न मारने-योग्य अपने बन्धु कौरव ॥
स्वजनों को मिटा कैसे मिलेगा हमको सुख ? ॥ ३७ ॥

लोभ ने हर ली बुद्धि दीखता न इन्हें अतः—
कुल के घात का दोष, पाप जो मित्र-द्रोह में ॥ ३८ ॥
जानते हम तो स्पष्ट, दोष जो कुल-नाश में—
बचाव पाप का ऐसे तो न क्यों हम सोच लें ? ॥ ३९ ॥
कुलक्षय हुए नाशें कुल-धर्म सनातन ।
धर्म का नाश होने से अधर्म कुल में मचे ॥ ४० ॥
अधर्म फैल जाने से भ्रष्ट होती कुल-स्त्रियां ।
नारियां भ्रष्ट होने से फैलता वर्ण-संकर ॥ ४१ ॥
पाता संकर से नर्क कुल-घाती तथा कुल ।
पितरों का अधःपात होता है श्राद्ध-लोप से ॥ ४२ ॥
कुलघ्न दोष से ऐसे वर्ण-संकरकारक—
डूबते जाति के धर्म, कुल-धर्म सनातन ॥ ४३ ॥
डुबोते कुल-धर्मों को जो, उनका अवश्य ही—
होता नरक में वास, आ रहे सुनते यही ॥ ४४ ॥
देखो, कैसा महापाप करने जा रहे हम ?
जो राज्य-सुख-लोभी हो, सगों को मारने तुले ॥ ४५ ॥

इससे श्रेय है छोड़ूं शस्त्र को, प्रतिकार को।
भले स-शस्त्र ये मारें मुझे कौरव युद्ध में ॥ ४६ ॥

संजय

कहके यों गया बैठ रथ के पृष्ठभाग में।
डालके निज गाण्डीव शोक-संतप्त अर्जुन ॥ ४७ ॥

दूसरा अध्याय : ज्ञान-योग-तत्व

[इस अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को तरह-तरह से समझाते हैं कि पहले से अंगीकृत इस युद्ध में लड़ना ही तुम्हारा कर्तव्य है। अब ऐन मौक़े पर अपने सगे-संबंधियों को देखकर जो मोह पैदा हो गया है वह गलत है। तुमको अपने चित्त से भेद-भाव, रागद्वेष हटाकर, मन को सम व प्रसन्न तथा बुद्धि को स्थिर रखकर, फल की चिन्ता न करते हुए, अपने कर्त्तव्य-पालन में लग जाना चाहिए। इसमें व्यावहारिक दलीलों के उपरान्त कर्मयोग का सिद्धान्त तथा स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण बताये गये हैं वे मनुष्य के लिए जीवन की सफलता व कर्तव्य की कुंजी का काम देनेयोग्य हैं।]

संजय

पार्थ को करुणाग्रस्त अश्रुपूरित नेत्र से—
विषाद करते देख कृष्ण यों कहने लगे ॥ १ ॥

श्रीभगवान्

सूझा मोह कहां से ये अप्रसंग, असंगत।
अशोभनीय आर्यों को इससे दुष्कीर्ति, दुर्गति ॥ २॥

क्लीवता न गहो ऐसी शोभता न तुम्हें यह।
छोड़ के चित्त-दौर्बल्य उठो, अब परन्तप ! ॥ ३ ॥

अर्जुन

कैसे मैं युद्ध में जूझूं भीष्म, द्रोणादि से, हरे !
कैसे मैं इन पै छोड़ूं बाण जो पूजनीय हैं ? ॥ ४ ॥

मारूं न मैं पूज्य गुरुजनों को,
भिक्षा भली, माँग जिऊं जहां में।
इन्हें मिटा के फिर रक्त-मिश्र,
भोगूं कहां भंगुर अर्थ-काम ? ॥ ५ ॥

'होवे इन्हींकी जय या हमारी'—
जानूं नहीं, श्रेय रहा कहां है।
जीना न चाहूं जिनको मिटा के,
वे ही खड़े कौरव सामने हैं ॥ ६ ॥

मेटा मेरा दैन्य ने सु-स्वभाव,
मारा सारा मोह ने धर्म-ज्ञान।
जिससे मेरा श्रेय हो सो बताओ,
पैरों में हूं आ पड़ा शिष्य होके ॥ ७ ॥

पाऊं भले कंटक-हीन राज्य,
तथैव इन्द्रासन, स्वर्गलोक।
तो भी मिटेगा उससे न शोक,
सुखा रहा जो सब इन्द्रियों को ॥ ८ ॥

संजय

यों अर्जुन गुडाकेश बोल के वासुदेव से।
'गोविन्द न लड़ूंगा मैं' कह के हो गया चुप ॥ ९ ॥

क्लीवता न गहो ऐसी शोभता न तुम्हें यह।
छोड़ के चित्त-दौर्बल्य उठो, अब परन्तप ! ॥ ३ ॥

अर्जुन

कैसे मैं युद्ध में जूझूं भीष्म, द्रोणादि से, हरे !
कैसे मैं इन पै छोड़ूं बाण जो पूजनीय हैं ! ॥ ४ ॥

मारूं न मैं पूज्य गुरुजनों को,
भिक्षा भली, माँग जिऊं जहां में।
इन्हें मिटा के फिर रक्त-मिश्र,
भोगूं कहां भंगुर अर्थ-काम ! ॥ ५ ॥
'होवे इन्हींकी जय या हमारी'—
जानूं नहीं, श्रेय रहा कहां है।
जीना न चाहूं जिनको मिटा के,
वे ही खड़े कौरव सामने हैं ॥ ६ ॥
मेटा मेरा दैन्य ने सु-स्वभाव,
मारा सारा मोह ने धर्म-ज्ञान।
जिससे मेरा श्रेय हो सो बताओ,
पैरों में हूं आ पड़ा शिष्य होके ॥ ७ ॥
पाऊं भले कंटक-हीन राज्य,
तथैव इन्द्रासन, स्वर्गलोक।
तो भी मिटेगा उससे न शोक,
सुखा रहा जो सब इन्द्रियों को ॥ ८ ॥

संजय

यों अर्जुन गुडाकेश बोल के वासुदेव से।
'गोविन्द न लड़ूंगा मैं' कह के हो गया चुप ॥ ९ ॥

गया न आया, स्थिर है, पुराण,
मरे न देही यदि देह मारे ॥ २० ॥

जो इसे जानता नित्य, अज, अव्यय, शाश्वत ।
मारे वह किसे, कैसे, मरवावे तथा कहो ? ॥ २१ ॥

उतारके वस्त्र फटे-पुराने,
लेता नये अन्य मनुष्य जैसे ।
तैसे तजे जीर्ण हुए शरीर,
लेता रहे देह नवीन आत्मा ॥ २२ ॥

इसे शस्त्र नहीं काटे, नहीं अग्नि जला सके ।
भिगो सके नहीं पानी, नहीं वायु सुखा सके ॥ २३ ॥
न जले, न कटे आत्मा, सूखे, भीगे नहीं यह ।
सर्वव्यापक है नित्य, स्थिर, निश्चल, शाश्वत ॥ २४ ॥
इसे अचिन्त्य, अव्यक्त, निर्विकार कहा, अतः—
चीन्ह के इसका रूप शोक-योग्य नहीं तुम्हें ॥ २५ ॥
मान लें यदि आत्मा को जन्म-मृत्यु प्रतिक्षण ।
तथापि सोच का कोई कारण है तुम्हें नहीं ॥ २६ ॥
जो जन्मा सो मरेगा ही, मरे का जन्म निश्चित ।
अतः निश्चित भावी का व्यर्थ सोच करो नहीं ॥ २७ ॥
भूतों का आदि अव्यक्त, मध्य है व्यक्त भासता ।
अन्त भी फिर अव्यक्त, सोच क्या उसका करें ॥ २८ ॥

'आश्चर्य-सा' दे कुछ को दिखाई,
'आश्चर्य-सा' अन्य करें बखान ।

'आश्चर्य-सा' अन्य सुनें, तथापि
जाना नहीं जाय अगम्य ऐसा ॥ २६ ॥

सबके देह में नित्य आत्मा अमर है बसा।
करो शोच न कौन्तेय, इससे भूत-मात्र का ॥ ३० ॥

स्वधर्म-दृष्टि से भी तो न योग्य डिगना तुम्हें।
क्षत्रिय को नहीं श्रेष्ठ बढ़ के धर्म-युद्ध से ॥ ३१ ॥
मिला मानो अनायास स्वर्गद्वार खुला हुआ।
क्षत्रिय को मिले ऐसा युद्ध सौभाग्य से बड़े ॥ ३२ ॥
ऐसा जो धर्म-संग्राम टालोगे तो अवश्य ही—
स्वधर्म, कीर्ति को खोके पड़ोगे पाप में तुम ॥ ३३ ॥
अपकीर्ति तुम्हारी को गावेंगे लोग कल्प लों।
सम्भावित जनों की है अकीर्ति मृत्यु से बुरी ॥ ३४ ॥
'डर के रण से भागा' मानेंगे वे महारथी—
जिनमें तुम सन्मान्य पाओगे तुच्छता वहीं ॥ ३५ ॥
यों नहीं कहने-योग्य कहेंगे शत्रु ये बहु।
निन्देंगे तव सामर्थ्य इससे अधिक दुःख क्या ? ॥ ३६ ॥
मरे तो मिलेगा स्वर्ग, जीते तो भोग भूमि का।
अतएव उठो पार्थ, युद्ध का कर निश्चय ॥ ३७ ॥

सम मान नफा-टोटा सुख-दुःख जयाजय।
फिर सज युद्ध को हो तो, पाप होगा तुम्हें नहीं ॥ ३८ ॥
यह है सांख्य का योग कर्म-योग सुनो अब,
तोड़ोगे जिससे सारे अपने कर्म-बन्धन ॥ ३९ ॥

नहीं आरम्भ का नाश इसमें न उलटा फल।
अंश भी धर्म का ऐसे तारता भय से महा ॥ ४० ॥

यहां मनुष्य की बुद्धि रहती एक-निश्चयी।
अनन्त बहु शाखों की बुद्धि निश्चयहीन की ॥ ४१ ॥

फुला के बोलते ऐसी वाणी जो अल्पबुद्धि वे।
मग्न हैं वेद-वादों में कहते-'अन्य है नहीं' ॥ ४२ ॥

'जन्मे हो तो करो कर्म जुटाओ भोग-वैभव।
मीठे फल चखो उसके' कहते स्वर्ग कामुक ॥ ४३ ॥

इससे मोहित हो बुद्धि भोग-ऐश्वर्य में फँसी।
हों के निश्चय से हीन, न स्थिर हो समाधि में ॥ ४४ ॥

वेद-वर्णित त्रैगुण्य उनमें लिप्त हो नहीं।
रहो सत्वस्थ[1] निर्द्वन्द्व निर्योग-क्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

चारों ओर भरा पानी उसे क्या अर्थ कुंड से ?।
तैसे ही ब्रह्मवेत्ता को वेदों से न प्रयोजन ॥ ४६ ॥

तुम्हारा कर्म का जिम्मा, फल का है नहीं कभी।
आसक्ति न फलों में हो, न हो प्रीति अकर्म में ॥ ४७ ॥

छोड़ के सब आसक्ति सम जानो फलाफल।
योगस्थ हो करो कर्म, समता सार योग का ॥ ४८ ॥

अत्यन्त हीन तो कर्म सत्य ही बुद्धियोग[2] से।
इसीका आसरा ले लो, फल तो दीन चाहते ॥ ४९ ॥

१ सत्वशुद्ध भावना व शुद्ध बुद्धि।

२ समत्व-बुद्धियोग।

बुद्धि-योगी यहां तो है छोड़ता पाप-पुण्य को।
इसीसे योग को साधो, योग ही कर्म-कौशल ॥ ५० ॥
कर्म के फल को छोड़ बुद्धियोगी मुनीश्वर,
छूट के जन्म-बन्धों से पा जाते पद अच्युत ॥ ५१ ॥
मोह के पंक से बुद्धि तुम्हारी जब पार हो।
होवेगा तब निर्वेद[1] श्रुत से, श्रवणीय से ॥ ५२ ॥
बहु-श्रुति-भ्रमिता बुद्धि तुम्हारी जब हो स्थिर।
समाधि में स्थितप्रज्ञ पाओगे योग को तभी ॥ ५३ ॥

अर्जुन

स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ कैसा होता जनार्दन ?
स्थितधी बोलता कैसे बैठता, चलता तथा ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान्

कामना मन की सारी त्याग के सर्वदा रहे—
आत्मा में आप सन्तुष्ट 'स्थितप्रज्ञ' उसे कहा ॥ ५५ ॥
न हो उद्वेग दुःखों से, सुखों की लालसा न हो,
गया राग भय क्रोध, मुनि सो स्थिर-बुद्धि है ॥ ५६ ॥
जो सर्वत्र अनासक्त मिले जो भी शुभाशुभ—
तो भी न हर्ष या शोक, उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ५७ ॥
सम्पूर्ण विषयों से जो इन्द्रियां खींचले सभी—
जैसे कच्छप अंगों को, उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ५८ ॥
निराहारी शरीरी के जाते विषय, किन्तु हाँ—
रस तो रहता, जाता आत्म-दर्शन से सही ॥ ५९ ॥

[1] वैराग्य, शान्ति।

यत्नशील रहे तो भी मन को भी सुविज्ञ के—
खींचती इन्द्रियां सारी विषयों में प्रमत्त हो ॥ ६० ॥
योग से उनको जीत मुझमें लीन हो रहे,
वश में इन्द्रियां जिसकी उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ६१ ॥
विषयों का करें ध्यान तो है आसक्ति जन्मती,
होता आसक्ति से काम, काम से क्रोध जन्मता ॥ ६२ ॥
क्रोध से उपजे मोह, मोह से नष्ट हो स्मृति,
स्मृति नाशे मिटे बुद्धि, बुद्धि नाशे विनाश है ॥ ६३ ॥

राग द्वेष-छुटी जिसकी भोगें विषय इन्द्रियां ।
वशेन्द्रिय स्थिरात्मा जो पाता है सो प्रसन्नता ॥ ६४ ॥
प्रसन्नचित्त होने से मिट जाते सभी दुख ।
पाती प्रसन्नता से है स्थिरता बुद्धि शीघ्र ही ॥ ६५ ॥
अयोगी को नहीं बुद्धि, अयोगी को न भावना ।
न भावहीन को शांति, कहां सुख अशांत को ? ॥ ६६ ॥
स्वच्छन्द इन्द्रियों पीछे दौड़ता जिसका मन
देही की सो हरे प्रज्ञा जल में वायु नाव ज्यों ॥ ६७ ॥
अतः सर्वथा जिसने खींचलीं इन्द्रियाँ निज—
समस्त विषयों से है उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ६८ ॥
निशा जो सर्वभूतों की उसमें जाग्रत संयमी ।
जागे जिसमें सभी जीव सो ज्ञानी-मुनि की निशा ॥ ६९ ॥

समुद्र पाता नित नीर तो भी,
लेता समा सर्व, न भंग पाता ।

तैसे समाते सब भोग जिसमें,
सो शांति पाता, न कि काम-कामी ॥ ७० ॥
छोड़ के कामना सारी फिरे जो नर निस्पृह,
निर्मोह, निरंहकार सो पावे शान्ति को सही ॥ ७१ ॥

यही ब्राह्मी-दशा, इसको पा के न मोह में पड़े।
टिकता अन्त लों भी जो ब्रह्म-निर्वाण सो लहै ॥ ७२ ॥

तीसरा अध्याय : कर्म-योग

[स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन चक्कर में पड़ गया कि मैं ज्ञानी बनकर खमोश हो रहूं या कर्मयोगी बनकर इस लड़ाई में पड़ूं। इसलिए इस अध्याय में कर्मयोग की विशेष महिमा समझाई गई है, जिसका मूल-मंत्र है निष्कामभाव से, फल में आसक्ति न रखकर, कर्तव्य कर्म करना। यज्ञार्थ अर्थात् सेवा-भाव से यदि कर्म किये जायँ तो उनसे मनुष्य आसक्ति-रहित हो सकता है, यह इस अध्याय का निचोड़ है।]

अर्जुन

कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ मानते यदि आप हैं।
क्यों फिर घोर कर्मों में प्रेरते मुझको स्वयं ? ॥ १ ॥
मिश्र-सी उक्ति से मानो डालते बुद्धि मोह में।
जिससे श्रेय हो मेरा कहो सो एक निश्चित ॥ २ ॥

श्रीभगवान्

दो जो हैं जग में निष्ठा सो पहले बता चुका।
ज्ञान से सांख्य की निष्ठा योग से कर्मयोग की ॥ ३ ॥

टाल के कर्म-आरम्भ नैष्कर्म्य सधता नहीं।
न संन्यास-क्रिया से भी मिलती पूर्ण सिद्धि है॥ ४॥
बिना कर्म किये कोई रहे न क्षण-मात्र भी।
कर्म को बाध्य हैं सारे बँधे प्रकृति-धर्म से॥ ५॥
रोक कर्मेन्द्रियों को जो याद है मन से करे—
विषयों को, महामूढ़ मिथ्याचारी कहा उसे॥ ६॥
मन से इन्द्रियां रोक कर्माचरण जो करे—
असंग इन्द्रियों द्वारा, श्रेष्ठ सो कर्म-योग में॥ ७॥
करो नियत ही कर्म, श्रेष्ठ कर्म अकर्म से।
तुम्हारी देह यात्रा भी न चले कर्म के बिना॥ ८॥

यज्ञार्थ-कर्म को छोड़ शेष हैं कर्म बन्धन।
अतः यज्ञार्थ ही कर्म करो पार्थ, असंग हो॥ ९॥
यज्ञ-साथ प्रजा जन्मा विधि ने आदि में कहा—
'इससे वृद्धि को पाओ, कामधेनु तुम्हें यह॥ १०॥
यज्ञ से तुम देवों को पोषो, वे पोष लें तुम्हें।
परम श्रेय को पाओ यों परस्पर पोष के॥ ११॥
यज्ञ से तुष्ट हो देव देवेंगे भोग वांछित।
उन्से ले जो न दे उन्को खाता सो चोर निश्चित'॥ १२॥
यज्ञ का शेष जो खाते छूटें वे सन्त पाप से।
जो निज-हेतु ही रांधें पापी वे, पाप जीमते॥ १३॥

अन्न से उपजे प्राणी वर्षा से अन्न सम्भव,
होती है वृष्टि यज्ञों से, यज्ञ उत्पन्न कर्म से॥ १४॥

महत्[1] से उपजा कर्म, महत् अक्षर[2] से बना।
सर्वव्यापी अतः ब्रह्म नित्य है यज्ञ में स्थित ॥ १५ ॥
ऐसा प्रेरित जो चक्र चलाता लोक में नहीं।
इन्द्रियाराम सो पापी बिताता व्यर्थ जीवन ॥ १६ ॥
आत्मा में रति हो जिसकी आत्मा से तृप्त जो रहे।
आत्मा में आप सन्तुष्ट, न कर्तव्य उसे रहा ॥ १७ ॥
करे वा न करे दोनों उसके अर्थ एक हैं।
किसीसे कुछ भी स्वार्थ उसे न जग में रहा ॥ १८ ॥
अतः होके अनासक्त कार्य[3] कर्म सदा करो।
निःसंग करके कर्म पाता है श्रेय को नर ॥ १९ ॥
संसिद्धि कर्म-द्वारा ही प्राप्त की जनकादि ने।
यह देख करो कर्म लोक-संग्रह के लिए ॥ २० ॥
महाजन करें जो-जो सो-सो ही दूसरे करें।
वे जिसे मान्यता देते चलाते लोग हैं उसे ॥ २१ ॥
नहीं यद्यपि कर्तव्य, प्राप्तव्य कुछ भी मुझे।
तीनों ही लोक में तो भी कर्म में लीन हूँ सदा ॥ २२ ॥
यदि मैं छोड़ आलस्य नित्य कर्म करूं नहीं,
तो करें सर्वथा लोग मेरा ही अनुवर्तन ॥ २३ ॥
छोड़ दूं यदि मैं कर्म तो सब लोक नष्ट हों।
होके संकर का कर्त्ता प्रजा का नाश मैं करूं ॥ २४ ॥

1 महत्-तत्त्वचित्त, प्रकृति का प्रथम प्रकट रूप।
2. आत्मा, ब्रह्म। 3. कर्तव्य-रूप।

गया न आया, स्थिर है, पुराण,
मरे न देही यदि देह मारे ॥ २० ॥

जो इसे जानता नित्य, अज, अव्यय, शाश्वत।
मारे वह किसे, कैसे, मरवावे तथा कहो? ॥ २१ ॥

उतारके वस्त्र फटे-पुराने,
लेता नये अन्य मनुष्य जैसे।
तैसे तजे जीर्ण हुए शरीर,
लेता रहे देह नवीन आत्मा ॥ २२ ॥

इसे शस्त्र नहीं काटे, नहीं अग्नि जला सके।
भिगो सके नहीं पानी, नहीं वायु सुखा सके ॥ २३ ॥
न जले, न कटे आत्मा, सूखे, भीगे नहीं यह।
सर्वव्यापक है नित्य, स्थिर, निश्चल, शाश्वत ॥ २४ ॥
इसे अचिन्त्य, अव्यक्त, निर्विकार कहा, अतः—
चीन्ह के इसका रूप शोक-योग्य नहीं तुम्हें ॥ २५ ॥
मान लें यदि आत्मा को जन्म-मृत्यु प्रतिक्षण।
तथापि सोच का कोई कारण है तुम्हें नहीं ॥ २६ ॥
जो जन्मा सो मरेगा ही, मरे का जन्म निश्चित।
अतः निश्चित भावी का व्यर्थ सोच करो नहीं ॥ २७ ॥
भूतों का आदि अव्यक्त, मध्य है व्यक्त भासता।
अन्त भी फिर अव्यक्त, सोच क्या उसका करें ॥ २८ ॥

'आश्चर्य-सा' दें कुछ को दिखाई,
'आश्चर्य-सा' अन्य करें बखान।

'आश्चर्य-सा' अन्य सुनें, तथापि
जाना नहीं जाय अगम्य ऐसा ॥ २६ ॥

सबके देह में नित्य आत्मा अमर है बसा।
करो शोच न कौन्तेय, इससे भूत-मात्र का ॥ ३० ॥

स्वधर्म-दृष्टि से भी तो न योग्य डिगना तुम्हें।
क्षत्रिय को नहीं श्रेष्ठ बढ़ के धर्म-युद्ध से ॥ ३१ ॥
मिला मानो अनायास स्वर्गद्वार खुला हुआ।
क्षत्रिय को मिले ऐसा युद्ध सौभाग्य से बड़े ॥ ३२ ॥
ऐसा जो धर्म-संग्राम टालोगे तो अवश्य ही—
स्वधर्म, कीर्ति को खोके पड़ोगे पाप में तुम ॥ ३३ ॥
अपकीर्ति तुम्हारी को गावेंगे लोग कल्प लों।
सम्भावित जनों की है अकीर्ति मृत्यु से बुरी ॥ ३४ ॥
'डर के रण से भागा' मानेंगे वे महारथी—
जिनमें तुम सन्मान्य पाओगे तुच्छता वहीं ॥ ३५ ॥
यों नहीं कहने-योग्य कहेंगे शत्रु ये बहु।
निन्देंगे तव सामर्थ्य इससे अधिक दुःख क्या ?॥ ३६ ॥
मरे तो मिलेगा स्वर्ग, जीते तो भोग भूमि का।
अतएव उठो पार्थ, युद्ध का कर निश्चय ॥ ३७ ॥

सम मान नफा-टोटा सुख-दुःख जयाजय।
फिर् सज युद्ध को हो तो, पाप होगा तुम्हें नहीं ॥ ३८ ॥
यह है सांख्य का योग कर्म-योग सुनो अब,
तोड़ोगे जिससे सारे अपने कर्म-बन्धन ॥ ३९ ॥

नहीं आरम्भ का नाश इसमें न उलटा फल।
अंश भी धर्म का ऐसे तारता भय से महा॥ ४० ॥
यहां मनुष्य की बुद्धि रहती एक-निश्चयी।
अनन्त बहु शाखों की बुद्धि निश्चयहीन की॥ ४१ ॥
फुला के बोलते ऐसी वाणी जो अल्पबुद्धि वे।
मग्न हैं वेद-वादों में कहते-'अन्य है नहीं'॥ ४२ ॥
'जन्मे हो तो करो कर्म जुटाओ भोग-वैभव।
मीठे फल चखो उसके' कहते स्वर्ग कामुक॥ ४३ ॥
इससे मोहित हो बुद्धि भोग-ऐश्वर्य में फँसी।
हो के निश्चय से हीन, न स्थिर हो समाधि में॥ ४४ ॥
वेद-वर्णित त्रैगुण्य उनमें लिप्त हो नहीं।
रहो सत्वस्थ[1] निर्द्वन्द्व निर्योग-क्षेम आत्मवान्॥ ४५ ॥
चारों ओर भरा पानी उसे क्या अर्थ कुंड से?।
तैसे ही ब्रह्मवेत्ता को वेदों से न प्रयोजन॥ ४६ ॥
तुम्हारा कर्म का जिम्मा, फल का है नहीं कभी।
आसक्ति न फलों में हो, न हो प्रीति अकर्म में॥ ४७ ॥
छोड़ के सब आसक्ति सम जानो फलाफल।
योगस्थ हो करो कर्म, समता सार योग का॥ ४८ ॥
अत्यन्त हीन तो कर्म सत्य ही बुद्धियोग[2] से।
इसीका आसरा ले लो, फल तो दीन चाहते॥ ४९ ॥

[1] सत्वशुद्ध भावना व शुद्ध बुद्धि।

[2] समत्व-बुद्धियोग।

बुद्धि-योगी यहां तो है छोड़ता पाप-पुण्य को।
इसीसे योग को साधो, योग ही कर्म-कौशल ॥ ५० ॥
कर्म के फल को छोड़ बुद्धियोगी मुनीश्वर,
छूट के जन्म-बन्धों से पा जाते पद अच्युत ॥ ५१ ॥
मोह के पंक से बुद्धि तुम्हारी जब पार हो।
होवेगा तब निर्वेद[1] श्रुत से, श्रवणीय से ॥ ५२ ॥
बहु-श्रुति-भ्रमिता बुद्धि तुम्हारी जब हो स्थिर।
समाधि में स्थितप्रज्ञ पाओगे योग को तभी ॥ ५३ ॥

अर्जुन

स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ कैसा होता जनार्दन?
स्थितधी बोलता कैसे बैठता, चलता तथा? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान्

कामना मन की सारी त्याग के सर्वदा रहे—
आत्मा में आप सन्तुष्ट 'स्थितप्रज्ञ' उसे कहा ॥ ५५ ॥
न हो उद्वेग दुःखों से, सुखों की लालसा न हो,
गया राग भय क्रोध, मुनि सो स्थिर-बुद्धि है ॥ ५६ ॥
जो सर्वत्र अनासक्त मिले जो भी शुभाशुभ—
तो भी न हर्ष या शोक, उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ५७ ॥
सम्पूर्ण विषयों से जो इन्द्रियां खींचले सभी—
जैसे कच्छप अंगों को, उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ५८ ॥
निराहारी शरीरी के जाते विषय, किन्तु हाँ—
रस तो रहता; जाता आत्म-दर्शन से सही ॥ ५९ ॥

१ वैराग्य, शान्ति।

यत्नशील रहे तो भी मन को भी सुविज्ञ के—
खींचती इन्द्रियां सारी विषयों में प्रमत्त हो ॥ ६० ॥
योग से उनको जीत मुझमें लीन हो रहे,
वश में इन्द्रियां जिसकी उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ६१ ॥
विषयों का करें ध्यान तो है आसक्ति जन्मती,
होता आसक्ति से काम, काम से क्रोध जन्मता ॥ ६२ ॥
क्रोध से उपजे मोह, मोह से नष्ट हो स्मृति,
स्मृति नाशे मिटे बुद्धि, बुद्धि नाशे विनाश है ॥ ६३ ॥

राग द्वेष-छुटी जिसकी भोगें विषय इन्द्रियां ।
वशेन्द्रिय स्थिरात्मा जो पाता है सो प्रसन्नता ॥ ६४ ॥
प्रसन्नचित्त होने से मिट जाते सभी दुख ।
पाती प्रसन्नता से है स्थिरता बुद्धि शीघ्र ही ॥ ६५ ॥
अयोगी को नहीं बुद्धि, अयोगी को न भावना ।
न भावहीन को शांति, कहां सुख अशांत को ? ॥ ६६ ॥
स्वच्छन्द इन्द्रियों पीछे दौड़ता जिसका मन
देही की सो हरे प्रज्ञा जल में वायु नाव ज्यों ॥ ६७ ॥
अतः सर्वथा जिसने खींचलीं इन्द्रियाँ निज—
समस्त विषयों से है उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर ॥ ६८ ॥
निशा जो सर्वभूतों की उसमें जाग्रत संयमी ।
जागे जिसमें सभी जीव सो ज्ञानी-मुनि की निशा ॥ ६९ ॥

समुद्र पाता नित नीर तो भी,
लेता समा सर्व, न भंग पाता ।

तैसे समाते सब भोग जिसमें,
सो शांति पाता, न कि काम-कामी ॥ ७० ॥
छोड़ के कामना सारी फिरे जो नर निस्पृह,
निर्मोह, निरहंकार सो पावे शान्ति को सही ॥ ७१ ॥

यही ज्ञानी-दशा, इसको पा के न मोह में पड़े।
टिकता अन्त लों भी जो ब्रह्म-निर्वाण सो लहे ॥ ७२ ॥

तीसरा अध्याय : कर्म-योग

[स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन चक्कर में पड़ गया कि मैं ज्ञानी बनकर खमोश हो रहूं या कर्मयोगी बनकर इस लड़ाई में पड़ूं। इसलिए इस अध्याय में कर्मयोग की विशेष महिमा समझाई गई है, जिसका मूल-मंत्र है निष्कामभाव से, फल में आसक्ति न रखकर, कर्तव्य कर्म करना। यज्ञार्थ अर्थात सेवा-भाव से यदि कर्म किये जायँ तो उनसे मनुष्य आसक्ति-रहित हो सकता है, यह इस अध्याय का निचोड़ है।]

अर्जुन

कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ मानते यदि आप हैं।
क्यों फिर घोर कर्मों में प्रेरते मुझको स्वयं ? ॥ १ ॥
मिश्र-सी उक्ति से मानो डालते बुद्धि मोह में।
जिससे श्रेय हो मेरा कहो सो एक निश्चित ॥ २ ॥

श्रीभगवान्

दो जो हैं जग में निष्ठा सो पहले बता चुका।
ज्ञान से सांख्य की निष्ठा योग से कर्मयोग की ॥ ३ ॥

टाल के कर्म-आरम्भ नैष्कर्म्य सधता नहीं।
न संन्यास-क्रिया से भी मिलती पूर्ण सिद्धि है ॥ ४ ॥
विना कर्म किये कोई रहे न क्षण-मात्र भी।
कर्म को बाध्य हैं सारे बँधे प्रकृति-धर्म से ॥ ५ ॥
रोक कर्मेन्द्रियों को जो याद है मन से करे—
विषयों को, महामूढ़ मिथ्याचारी कहा उसे ॥ ६ ॥
मन से इन्द्रियां रोक कर्माचरण जो करे—
असंग इन्द्रियों द्वारा, श्रेष्ठ सो कर्म-योग में ॥ ७ ॥
करो नियत ही कर्म, श्रेष्ठ कर्म अकर्म से।
तुम्हारी देह यात्रा भी न चले कर्म के विना ॥ ८ ॥

यज्ञार्थ-कर्म को छोड़ शेष हैं कर्म बन्धन।
अतः यज्ञार्थ ही कर्म करो पार्थ, असंग हो ॥ ९ ॥
यज्ञ-साथ प्रजा जन्मा विधि ने आदि में कहा—
'इससे वृद्धि को पाओ, कामधेनु तुम्हें यह ॥ १० ॥
यज्ञ से तुम देवों को पोषो; वे पोष लें तुम्हें।
परम श्रेय को पाओ यों परस्पर पोष के ॥ ११ ॥
यज्ञ से तुष्ट हो देव देवेंगे भोग वांछित।
उन्सें ले जो न दे उन्को खाता सो चोर निश्चित' ॥ १२ ॥
यज्ञ का शेष जो खाते छूटें वे सन्त पाप से।
जो निज-हेतु ही रांधें पापी वे, पाप जीमते ॥ १३ ॥

अन्न से उपजे प्राणी वर्षा से अन्न सम्भव,
होती है वृष्टि यज्ञों से, यज्ञ उत्पन्न कर्म से ॥ १४ ॥

महत्[1] से उपजा कर्म, महत् अक्षर[2] से बना।
सर्वव्यापी अतः ब्रह्म नित्य है यज्ञ में स्थित ॥ १५ ॥
ऐसा प्रेरित जो चक्र चलाता लोक में नहीं।
इन्द्रियाराम सो पापी विताता व्यर्थ जीवन ॥ १६ ॥
आत्मा में रति हो जिसकी आत्मा से तृप्त जो रहे।
आत्मा में आप सन्तुष्ट, न कर्त्तव्य उसे रहा ॥ १७ ॥
करे वा न करे दोनों उसके अर्थ एक हैं।
किसीसे कुछ भी स्वार्थ उसे न जग में रहा ॥ १८ ॥
अतः होके अनासक्त कार्य[3] कर्म सदा करो।
निःसंग करके कर्म पाता है श्रेय को नर ॥ १९ ॥
संसिद्धि कर्म-द्वारा ही प्राप्त की जनकादि ने।
यह देख करो कर्म लोक-संग्रह के लिए ॥ २० ॥
महाजन करें जो-जो सो-सो ही दूसरे करें।
वे जिसे मान्यता देते चलाते लोग हैं उसे ॥ २१ ॥
नहीं यद्यपि कर्त्तव्य, प्राप्तव्य कुछ भी मुझे।
तीनों ही लोक में तो भी कर्म में लीन हूँ सदा ॥ २२ ॥
यदि मैं छोड़ आलस्य नित्य कर्म करूं नहीं,
तो करें सर्वथा लोग मेरा ही अनुवर्तन ॥ २३ ॥
छोड़ दूं यदि मैं कर्म तो सब लोक नष्ट हों।
होके संकर का कर्त्ता प्रजा का नाश मैं करूं ॥ २४ ॥

१ महत्-तत्त्वचित्त, प्रकृति का प्रथम प्रकट रूप :
२ आत्मा, ब्रह्म। ३ कर्त्तव्य-रूप।

अज्ञानी करते कर्म जैसे आसक्ति-युक्त हो।
तैसे ज्ञानी अनासक्त लोक-संग्रह इच्छुक ॥ २५ ॥
अज्ञानी कर्मलिप्तों का बुद्धि-भेद करें नहीं
ज्ञानी, हो किन्तु योगस्थ जुटावें कर्म में उन्हें ॥ २६ ॥
प्रकृति के गुणों से ही होते कर्म समस्त ये।
अहंकार-बना मूढ़ 'मैं कर्त्ता' मानता नर ॥ २७ ॥
'गुण वर्तें गुणों में' सो जान होता न लिप्त है।
तत्व को जानता है जो गुण-कर्म-विभाग के ॥ २८ ॥
प्रकृति के गुणों-मूढ़ जो गुण-कर्म-लिप्त हैं।
ऐसे अल्पज्ञ मन्दों को न करें सुज्ञ न चंचल ॥ २९ ॥

अर्प के सब ही कर्म मुझे अध्यात्म-भाव से,
फलाशा, ममता छोड़, जूझो अर्जुन, निश्चित ॥ ३० ॥
छोड़ के द्रोह जो मेरा मानते यह शासन—
श्रद्धा से नित्य ही, वे भी छूटते सर्व कर्म से ॥ ३१ ॥
द्वेष से किन्तु जो मेरे मत को मानते नहीं।
जानो वे ज्ञान से हीन डूबते मूढ़ निश्चित ॥ ३२ ॥

ज्ञानी भी चलते नित्य स्वभाव-अनुसार ही।
स्वभाव-वश हैं जीव तहां निग्रह क्या करे ? ॥ ३३ ॥
इन्द्रियों के स्व-अर्थों में राग-द्वेष रहे खड़े।
उनके न वस में होओ देही के मार्ग-शत्रु वे ॥ ३४ ॥
हीन भी अपना धर्म भला है परधर्म से।
स्वधर्म में भली मृत्यु परधर्म भयंकर ॥ ३५ ॥

अर्जुन

तब प्रेरित हो किससे करता पाप मानव,
विरुद्ध निज इच्छा के बरजोरी खिंचा हुआ ? ॥ ३६ ॥

श्रीभगवान्

ये तो काम तथा क्रोध जो रजोगुण से हुए।
महाभक्षी महापापी बैरी हैं जान लो इन्हें ॥ ३७ ॥
ढँकती आग धूएं से, आरसी मैल से यथा,
जेर से ज्यों ढँका गर्भ तैसे ही ज्ञान काम से ॥ ३८ ॥
काम-रूपी महाअग्नि होता तृप्त कभी न जो,
ज्ञानी का नित्य जो बैरी उससे ज्ञान ढँका यह ॥ ३९ ॥
ये मन, इन्द्रियां, बुद्धि, हैं अधिष्ठान काम के।
मोहते लोग को उनके ज्ञान को कर आवृत ॥ ४० ॥
पहले से इसी हेतु जीत के इन्द्रियां सभी—
मिटा दो इस पापी को ज्ञान-विज्ञान-नाशक ॥ ४१ ॥
इन्द्रियां हैं कहीं सूक्ष्म, सूक्ष्म इन्द्रिय से मन,
मन से सूक्ष्म है बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म सो प्रभु ॥ ४२ ॥
यों जो बुद्धि-परे, जान, बुद्धि से जीत के मन।
मारो इस महाबैरी तथा दुर्जय काम को ॥ ४३ ॥

चौथा अध्याय : ज्ञान से कर्म-संन्यास

[इसमें ज्ञान के द्वारा कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने का उपाय बताया गया है। यज्ञार्थ या ईश्वर-परायण होकर कर्म करने का विधान किया गया है।]

श्रीभगवान्

अविनाशी यही योग मैंने था सूर्य से कहा।
सूर्य से मनु ने पाया उसने इक्ष्वाकु से कहा ॥ १ ॥
ऐसी परम्परा से जो राजर्षिगण को मिला,
काल पाके वही योग पृथ्वी से लोप हो गया ॥ २ ॥
वही तो योग प्राचीन आज है तुमसे कहा--
यह है मर्म भी श्रेष्ठ, मेरे भक्त, सखा तुम ॥ ३ ॥

अर्जुन

सूर्य तो पहले जन्मा आपका जन्म हाल का।
तो मैं कैसे भला जानूं आदि में आपने कहा ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवान्

मेरे और तुम्हारे भी अनेकों जन्म हो चुके।
जानता सबको मैं हूं किन्तु तुम जानो नहीं ॥ ५ ॥
होकर मैं अजन्मा भी अविकारी जगत् प्रभु--
जन्मता आत्म-माया से लेके प्रकृति को निज ॥ ६ ॥
जग में जब होती है धर्म की ग्लानि, भारत !
अधर्म बढ़ता भारी, लेता मैं जन्म हूं तब ॥ ७ ॥

रक्षाको सधु-सन्तों की, दुष्टों के नाश के लिए।
धर्म की स्थापना-हेतु जन्मता कल्प-कल्प में ॥ ८ ॥
तत्वतः जानता मेरे दिव्य जो जन्म-कर्म हैं,।
देह त्यागे मुझे पाता न लेता जन्म सो फिर ॥ ९ ॥
त्याग राग, भय, क्रोध मेरे-आश्रित मैं-मय,
कई मद्भाव को पाये ज्ञान से तप-पूत हो ॥ १० ॥
जो मुझ को भजे जैसे वैसा ही मैं उन्हें भजूं।
मेरे ही मार्ग पै आते सर्वथा हैं सभी जन ॥ ११ ॥
चाह जो कर्म की सिद्धि देवों को पूजते जन।
वे पृथ्वी पर पाते हैं शीघ्र ही कर्म-सिद्धि को ॥ १२ ॥

चार वर्ण रचे मैंने भेदों से गुण-कर्म के।
कर्त्ता हूं इनका तो भी अकर्ता, निर्विकार मैं ॥ १३ ॥
मुझे न बांधते कर्म, इच्छा न फल की मुझे।
मुझे जो चीन्हता ऐसे बँधता कर्म से नहीं ॥ १४ ॥
किये मुमुक्षुओं ने हैं पूर्व में कर्म, बूझ यों—
उन्के आचार को देख तैसे कर्म करो तुम ॥ १५ ॥
बुध भी भ्रांत होते हैं—'क्या है कर्म, अकर्म क्या ?'
अतः कर्म कहूं जिस्को जान के मोक्ष प्राप्त हो ॥ १६ ॥
कर्म का जान लो मर्म तथा जानो विकर्म का,
तैसे अकर्म का जानो, गूढ़ है कर्म की गति ॥ १७ ॥
अकर्म कर्म में देखे कर्म देखे अकर्म में।
बुद्धिमान मनुष्यों में योगी सो पूर्ण कर्मवान् ॥ १८ ॥

जिसके सर्व समारम्भ काम-संकल्प-वर्जित,
ज्ञानाग्नि से जले कर्म उसके सारे, कहें बुध ॥ १६ ॥
छोड़ कर्म-फलासक्ति नित्य-तृप्त, निराश्रय,
कर्म में डूब के भी सो मानों कुछ करे नहीं ॥ २० ॥
मन को, बुद्धि को जीत तृष्णाहीन, असंग्रही।
केवल देह से कर्म करे तोभी न दोष हो ॥ २१ ॥
जो मिले उसमें तुष्ट, द्वन्द्व-मत्सर से परे।
असिद्धि-सिद्धि में तुल्य बँधता सो न कर्म से ॥ २२ ॥
योगी मुक्त, अनासक्त, ज्ञानावस्थित-चित्त का।
यज्ञार्थ जो करे कर्म होते लय समस्त वे ॥ २३ ॥

होमा है ब्रह्म में ब्रह्म ब्रह्म ने ब्रह्म-भाव से।
ब्रह्म में कर्म जोड़े जो हुआ सो ब्रह्मरूप ही ॥ २४ ॥
कोई योगी करे मात्र देव-यज्ञ-उपासना[1]।
कोई ब्रह्माग्नि में तैसे होमते यज्ञ यज्ञ से ॥ २५ ॥
श्रोत्रादि इन्द्रियां कोई होमते संयमाग्नि[2] में।
कोई विषय-शब्दादि होमते इन्द्रियाग्नि[3] में ॥ २६ ॥
प्राण इन्द्रिय के सारे कर्मों को अन्य होमते।
चेता के ज्ञान से अग्नि आत्म-संयम-योग की ॥ २७ ॥
द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, योग-यज्ञ करें कई।
ज्ञान यज्ञ व स्वाध्याय करते यति सुव्रती ॥ २८ ॥

१ देवताओं के यज्ञ द्वारा उपासना। २ कुमार्ग से इन्द्रियों को रोकने-रूपी तपो यज्ञ। ३ स्वाध्याय-यज्ञ।

अपान प्राण को कोई होमते एकमेक में।
अपान-प्राण को रोक प्राणायाम-परायण ॥ २६ ॥
प्राणों में होमते प्राण कोई आहार बांध के।
जलाके यज्ञ से पाप—जानते यज्ञ ये सभी ॥ ३० ॥
यज्ञ-शेष-सुधा-भोजी पाते ब्रह्म सनातन।
न यज्ञहीन को लोक, परलोक कहां मिले? ॥ ३१ ॥
बहु प्रकार के ऐसे वेदों में यज्ञ हैं कहे।
कर्म से ये हुए सारे मिलेगी मुक्ति जान के ॥ ३२ ॥

ज्ञान-यज्ञ सदा श्रेष्ठ होता है द्रव्य-यज्ञ से।
ज्ञान में ये सभी कर्म होते परिसमाप्त हैं ॥ ३३ ॥
नमके, पूछके प्रश्न, सेवा से ज्ञान जान लो।
तत्वदर्शी तथा ज्ञानी देंगे बोध तुम्हें सही ॥ ३४ ॥
जिसको जान नहीं होगा ऐसा मोह तुम्हें पुनः।
मुझ में और आत्मा में देख के भूत-मात्र को ॥ ३५ ॥
यदि होगे महापापी पापियों में शिरोमणि।
तथापि ज्ञान-नौका से तरोगे पाप को सभी ॥ ३६ ॥
जैसे धधकती अग्नि करती भस्म काष्ठ को।
ज्ञानाग्नि से सभी कर्म होते भस्म उसी विधि ॥ ३७ ॥
ज्ञान-जैसा नहीं कोई जग में है सुपवित्र।
योगयुक्त यथाकाल उसे पाता निजात्म में ॥ ३८ ॥
श्रद्धालु ज्ञान को पाता हो जितेन्द्रिय, तत्पर।
ज्ञान से फिर पाता है परम शान्ति शीघ्र ही ॥ ३९ ॥

अज्ञ और अ-श्रद्धालु संशयी का विनाश है।
यह लोक, न सो लोक, न पाता सुख संशयी ॥ ४० ॥
योग से कर्म को छोड़ काट संशय ज्ञान से।
ऐसे आत्मवशी को तो बांध सक्ते न कर्म हैं ॥ ४१ ॥
अतः अज्ञान-से जन्मे उर के सब संशय।
ज्ञान के खड्ग से छेद योगस्थ हो उठो, उठो ॥ ४२ ॥

पांचवां अध्याय : ज्ञान-दशा

[ज्ञान की महिमा बताने से अर्जुन फिर ज्ञान-कर्म की उलझन में पड़ गया, तब श्रीकृष्ण ने बताया कि ज्ञानयोग व कर्मयोग दोनों ही श्रेयस्कर हैं, परन्तु उनमें कर्म-योग बढ़ा-चढ़ा है। निष्काम भाव से, कर्तापन के अहंकार से अपने को बचाकर, मनुष्य कर्म करे तो जो फल संन्यासी अर्थात् ज्ञानमर्गी को मिलता है वही उसे भी मिलेगा। यही इस अध्याय का सार है।]

अर्जुन

कर्म-संन्यास को अच्छा बताते योग को कभी।
दो में से एक जो श्रेष्ठ बताओ वह निश्चित ॥ १ ॥

श्रीभगवन्

संन्यास, योग, दोनों ही एक-से मोक्ष-साधक।
कर्म-संन्यास से तो भी कर्म-योग बढ़ा-चढ़ा ॥ २ ॥
समझो नित्य संन्यासी इच्छा द्वेष जिसे नहीं।
सुख से छूटते उसके बन्ध जो द्वन्द्वहीन है ॥ ३ ॥

सांख्य को, योग को, भिन्न मानें मूढ़, न पण्डित।
एक में स्थिति हो पूरी तो दे उभय का फल ॥ ४ ॥
सांख्य को जो मिले स्थान योगी को भी मिले वही।
दोनों को एक-सा देखे, यथार्थ देखता वही ॥ ५ ॥
न प्राप्त सुख से होता संन्यास योग के बिना।
साध के संयमी योग, पा जाता शीघ्र ब्रह्म को ॥६॥
योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा[1] जितेन्द्रिय।
प्राण जो सर्व भूतों का करके भी न लिप्त सो ॥ ७ ॥
'मैं नहीं करता ऐसा' योगी तत्वज्ञ जानके—
देखे, सुने, छुए, सूंघे, खाये, सोये, चले, जिये ॥ ८ ॥
बोले, छोड़े तथा रक्खे, नेत्र खोले, ढँके, पर—
'इन्द्रियाँ बर्तती अपने अर्थ में' मानता यही ॥ ९ ॥
संग त्याग करे कर्म करके ब्रह्म-अर्पण।
न होता पाप में लिप्त जल में पद्म-पत्र-सा ॥ १० ॥
बुद्धि से, देह से किंवा केवल इन्द्रियादि से।
योगी निःसंग हो कर्म करता आत्म-शुद्धि को ॥ ११ ॥
फल को छोड़ के योगी पाता है शांति नैष्ठिकी।
अयोगी फल का लोभी बंधता स्वैर कर्म से ॥ १२ ॥
कर्मों को मन से छोड़ सुख से संयमी रहे।
पुर में नवद्वारों[2] के, करावे न करे कुछ ॥ १३ ॥
न कर्तापन लोगों का, न कर्म सृजता प्रभु।
न कर्मफल-संयोग, होता सर्व स्वभाव[3] से ॥ १४ ॥

१ मन को जीतने वाला। २ नौ दरवाजे वाले नगर-शरीर में।

न तो पाप किसी के ले, पुण्य को भी न ले विभु।
अज्ञान से ढँका ज्ञान उससे जीव मोहित ॥ १५ ॥
आत्मा के ज्ञान से जिनका नष्ट अज्ञान होगया।
उनका सूर्य-सा ज्ञान दिखाता पर-तत्व को ॥ १६ ॥
मन, बुद्धि तथा निष्ठा जिनके तद्रूप हो गये।
धुले हैं ज्ञान से पाप ऐसे तन्मय मुक्त हैं ॥ १७ ॥
विद्या-विनय-सम्पन्न विप्र, गाय तथा गज,
श्वान, चाण्डाल सारों को तत्वज्ञ देखते सम ॥ १८ ॥
यहीं है भव वे जीते साम्य में जिनकी स्थिति।
निर्दोष सम है ब्रह्म, अतः वे ब्रह्म में स्थित ॥ १९ ॥
प्रिय पाये नहीं हर्ष, अप्रिय में न शोक है।
बुद्धि निश्चल, निर्मोह ज्ञानी सो ब्रह्म में रँगा ॥ २० ॥
विषयों में न आसक्त, जानता सुख आत्मिक।
हुआ जो ब्रह्म में युक्त, भोगता सुख अक्षय ॥ २१ ॥
भोग जो विषयों के हैं वही कारण दुःख के।
विवेकी न रमें उनमें आते-जाते अनित्य वे ॥ २२ ॥
यत्न से मृत्यु के पूर्व यहीं जो सहले सभी—
काम-क्रोधज आवेग, वही योगी, वही सुखी ॥ २३ ॥
सुख, शान्ति तथा ज्योति जिसे अन्तर में मिलीं।
ब्रह्मभूत वही योगी पाता निर्वाण ब्रह्म में ॥ २४ ॥
पाते हैं ब्रह्मनिर्वाण ऋषि जो क्षीण-पाप हैं,
असंशयी जितात्मा त्यों विश्वकल्याण में रत ॥ २५ ॥

काम-क्रोधादि से मुक्त यति जो चित्त-निग्रही,
देखते ब्रह्म-निर्वाण आत्मज्ञानी चहुं दिशि ॥ २६ ॥
विषयों को परित्याग दृष्टि भ्रू-मध्य में लगा,
नाक में एक-सा साध प्राण और अपान को ॥ २७ ॥
रोक के मुनि मोक्षार्थी इन्द्रियां, मन, बुद्धि, जो
त्यागी इच्छा, भय, क्रोध, मुक्त है सर्वदा वह ॥ २८ ॥
यज्ञ का, तप का भोक्ता, सर्वलोक-महेश्वर,
भूत-मित्र मुझे जाने पाता सो शान्ति सर्वथा ॥ २९ ॥

छठा अध्याय : चित्त-निरोध

[इसमें योगाभ्यास द्वारा चित्त-निरोध करके मन को समता-युक्त व बुद्धि को कुशाग्र बनाने का उपाय बताया गया है। साथ ही मांगल्य का यह आश्वासन दिया गया है कि कल्याणकारी की अर्थात् सत्कर्म करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती।]

श्रीभगवान्

फल का आसरा छोड़ करे कर्त्तव्य कर्म जो—
वही योगी व संन्यासी, न कि निर्यज्ञ, निष्क्रिय[1] ॥ १ ॥
संन्यास जिसका नाम उसीको योग जान लो।
बिना संकल्प-संन्यास योगी कोई न हो सके ॥ २ ॥

[1] यज्ञ तथा कर्मों को न छोड़नेवाला।

योग-साधक के अर्थ कर्म कारण[1] है कहा।
योग-आरूढ़ के हेतु शम कारण[2] सो कहा ॥ ३ ॥
कर्मों में जो अनासक्त, विषयों से विरक्त हो,
सर्व-संकल्प-संन्यासी, योगारूढ़ कहा उसे ॥ ४ ॥

आप ही आप को तारे, डुबावे आपको नहीं।
आप ही अपना बन्धु, आप ही अपना रिपु ॥ ५ ॥
आप ही आपको जीता अपना आप सो सखा।
न जीता आपको जिसने शत्रु-सा आपसे रहे ॥ ६ ॥
शान्तचित्त जितात्मा का परमात्मा[3] समाधि[4] में-
शीतोष्ण—सुख-दुःखों में मानापमान में रहे ॥ ७ ॥
ज्ञान-विज्ञान से तृप्त, ब्रह्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय,
युक्त[5] है सो कहा योगी 'सम-लोष्ठाश्म-काञ्चन'[6] ॥ ८ ॥
शत्रु, मित्र, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ, बान्धव।
साधु, पापी सभी में जो सम-बुद्धि विशेष सो ॥ ९ ॥

बाँधके चित्त को योगी छोड़ इच्छा, परिग्रह,
एकान्त में अकेला हो लगावे आत्म में नित ॥ १० ॥
पवित्र स्थान में डाले दर्भ पै चर्म, वस्त्र को।
अति नीचा न ऊँचा यों जमाओ आसन स्थिर ॥ ११ ॥

१ (सर्व-संकल्प-संन्यासरूपी योग का) साधन। २ प्रयोजन। ३ मन बुद्धि से परे, आत्मा। ४ समाधान की स्थिति में। ५ समत्वबुद्धियुक्त। ६ मिट्टी, पत्थर व सोना सबको सम समझनेवाला

सु-स्थिर बैठके रोक इन्द्रियाँ, चित्त की क्रिया,
एकाग्र मन से साधो योग यों आत्म-शुद्धि को ॥ १२ ॥
सीधी काया-सिर-ग्रीवा, रखके स्थिर, निश्चल।
धार नासाग्र पै दृष्टि न देखो आसपास भी ॥ १३ ॥
शान्त, निर्भय, मच्चित, ब्रह्म-चर्य-व्रत-स्थित,
युक्ति से मन को रोक, मुझमें लीन हो रहो ॥ १४ ॥
यों जोड़ नित्य आत्मा को योगी नियत-मानस,
परमा शान्ति को पाता मुझमें निर्वाण-दायिनी ॥ १५ ॥
न योग अति खाने से न तो लङ्घन-मात्र से।
तथा न अति निद्रा से, या दिन-रात जागके ॥ १६ ॥
युक्ताहार-विहारी जो, योग्य प्रवृत्ति कर्म में,
युक्त जागृति-निद्रा ले उसे ही योग दुःखहा ॥ १७ ॥
बँधा नियम में चित्त रँगा जो आत्म-रूप में,
बुझा ली वासना सारी तभी युक्त कहा उसे ॥ १८ ॥
निर्वात स्थान में जैसे न हिले दीप की शिखा।
संयमी आत्म-योगी के चित्त की उपमा यही ॥ १९ ॥
अटका चित्त-सञ्चार जहाँ योग-निरोध से—
देखके आत्म आत्मा से पाता सन्तोष आत्म में ॥ २० ॥
जहाँ है सुख अत्यन्त-बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय—
उसे जान रमा उसमें डिगता तत्व से न सो ॥ २१ ॥
जिसे पाके नहीं अन्य लाभ है जँचता उसे।
न डिगे स्थित हो जिसमें बड़े भी दुःख-भार से ॥ २२ ॥

कहते हैं उसे योग जिसमें दुःख-वियोग है।
प्रसन्नचित्त से साधो ऐसा योग सुनिश्चित ॥ २३ ॥
सर्व संकल्प से जन्य काम निःशेष छोड़के,
मन से इन्द्रियाँ सारी खींचके विषयादि से ॥ २४ ॥
धीरे-धीरे बना शान्त धैर्य से, बुद्धि से तत्र—
लगाओ मन आत्मा में, करो न कुछ चिन्तन ॥ २५ ॥
जहाँ से छूटके भागे मन चञ्चल, अस्थिर।
वहीं से खींचके लाके लगाओ आत्म-ध्यान में ॥ २६ ॥
प्रशान्त, मन, निष्पाप, निर्विकार विशुद्ध जो—
ब्रह्म-रूप हुआ सो तो पाता है सुख उत्तम ॥ २७ ॥
यों निष्पाप हुआ योगी आत्मा को साधता सदा—
सुख से ब्रह्म को पाके भोगे अत्यन्त ही सुख ॥ २८ ॥
आत्मा है सर्वभूतों में आत्मा में सर्वभूत हैं।
यों करे योग-युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शन ॥ २९ ॥
जो सर्वत्र मुझे देखे सबको मुझमें तथा।
न वियोग उसे मेरा उसका भी मुझे नहीं ॥ ३० ॥
जो भजे एकनिष्ठा से सर्व-भूतस्थ को मुझे—
कैसा भी वर्तता तो भी योगी सो मुझ में रहे ॥ ३१ ॥
आत्मा समान सर्वत्र जो देखे स-बुद्धि से—
समस्त सुख-दुःखों को—योगी सो श्रेष्ठ है कहा ॥ ३२ ॥

अर्जुन

यह जो आपने मुझको बताया साम्य-योग है।
दीखे न स्थिरता उसकी होने से मन चञ्चल ॥ ३३ ॥

मन चञ्चल है कृष्ण, हठीला, है बली दृढ़
वायु-सा दौड़ता, दीखे उस्का निग्रह दुष्कर ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान्

मन चञ्चल दुःसाध्य महाबाहो, न संशय।
किन्तु अभ्यास, वैराग्य कर लेते वश में उसे ॥ ३५ ॥
बिना संयम सो योग मानता हूँ, असाध्य है।
किन्तु संयमवानों को होता सु-साध्य यत्न से ॥ ३६ ॥

अर्जुन

श्रद्धा तो है, नहीं यत्न, योग से मन है डिगा,
न पाई योग संसिद्धि, उस्की क्या गति केशव ? ॥ ३७ ॥
क्या होके उभय-भ्रष्ट[1] भूल के ब्रह्म-मार्ग सो—
नष्ट होगा, निराधार, छिन्न-विच्छिन्न मेघ-सा ? ॥ ३८ ॥
मेरी यह शंका कृष्ण, मिटा दो मूल से हरे !
न कोई दीखता अन्य जो संशय मिटा सके ॥ ३९ ॥

श्रीभगवान्

होता सो न कभी नष्ट इस वा अन्य लोक में।
तात, कल्याणकारी तो पाता कभी न दुर्गति ॥ ४० ॥
रहके पुण्य लोकों में सो योग-भ्रष्ट सन्तत,
शुचि श्रीमन्त लोगों के घर में जन्म धारता ॥ ४१ ॥
अथवा सद्बुद्धि योगी के कुल में जन्म ले वह।
ऐसा अत्यन्त दुष्प्राप्य जन्म है इस लोक में ॥ ४२ ॥

[1] दोनों लोक से भ्रष्ट।

वहाँ सो पूर्वजन्मों का बुद्धि-संस्कार जोड़के—
करता सिद्धि के अर्थ फिर से और यत्न है ॥ ४३ ॥
पूर्व अभ्यास के द्वारा खिंचता परतन्त्र-सा—
योग-जिज्ञासु भी जाता लाँघके वेद-कर्म[1] को ॥ ४४ ॥
योगी प्रयत्न में लीन दोषों से छूटता हुआ—
अनेक जन्म में सिद्ध होके पाता परा गति ॥ ॥४५
तपस्वी से बड़ा योगी, ज्ञानी से भी बड़ा कहा ।
कर्मियों से बड़ा योगी अतः योगी बनो तुम ॥ ४६ ॥
सब ही योगियों में जो श्रद्धालु मुझको भजे ।
मुझ में लौ लगा—योगी सो मुझे श्रेष्ठ मान्य है ॥ ४७ ॥

सातवाँ अध्याय : ज्ञान-विज्ञान

[इसमें यह समझाया गया है कि यह सब कुछ ईश्वरमय है; अज्ञान से जुदा-जुदा नाम-रूप भासते है। जो मनुष्य मेरी इस अभेद या अद्वैत स्थिति को समझ लेते हैं और तदनुसार संसार में वर्तते हैं वे संसार के सब दुःखों व बन्धनों से छूट जाते हैं।]

श्रीभगवान्

आसक्त मुझमें, मेरे आसरे योग साधते—
कैसे समग्र निःशंक मुझे जानो, सुनो अब ॥ १ ॥

1 कर्म-काण्ड को ।

विज्ञान-सह सो ज्ञान सम्पूर्ण कहता तुम्हें,
जानके जिसको आगे जानना न रहे यहाँ ॥ २ ॥

सहस्रों में कहीं एक करता यत्न सिद्ध का,
एकाध यति सिद्धों में तत्त्वतः जानता मुझे ॥ ३ ॥

पृथ्वी, जल तथा तेज, वायु आकाश पाँचवाँ,
मन, बुद्धि, अहङ्कार—मेरी प्रकृति अष्टधा ॥ ४ ॥

यह है अपरा जानो, अन्य प्रकृति है परा।
जीव के रूप में जिसने धारा यह सभी जगत् ॥ ५ ॥

इन्हीं उभय से सारे उत्पन्न भूत जान लो।
समग्र विश्व का मैं ही हूँ उत्पत्ति तथा लय ॥ ६ ॥

नहीं है दूसरा तत्त्व कोई भी मुझसे परे।
गुँथा है सर्व मेरे में धागे में मणियाँ यथा ॥ ७ ॥

जल में रस मैं पार्थ, प्रभा हूँ शशि-सूर्य में।
नभ में शब्द, वेदों में ॐ, नरों में नरत्व[1] हूँ ॥ ८ ॥

अग्नि में तेज कौन्तेय, भूमि में पुण्य गन्ध हूँ।
आयुष्य सर्व जीवों में तापसों में तथा तप ॥ ९ ॥

बीज मैं सर्वभूतों का जानो पार्थ, सनातन।
बुद्धि मैं बुद्धिमानों में तेज हूँ तेजवान का ॥ १० ॥

कामना राग से मुक्त, बल मैं बलवान का।
धर्म से अविरोधी जो ऐसा मैं काम भूत में ॥ ११ ॥

[1] पौरुष।

रजस्तम तथा सत्त्व भाव हैं मुझसे हुए।
किन्तु मैं न रहूँ उन्में, वेही हैं मुझमें रहें ॥ १२ ॥
त्रिगुणात्मक भावों से सारा है विश्व मोहित।
जिस्से मुझे नहीं जाने हूँ गुणातीत अव्यय ॥ १३ ॥
यह जो त्रिगुणी दैवी माया सो अति दुस्तर।
मेरी शरण ही आते तर जाते अवश्य वे ॥ १४ ॥
हीन, मूढ़, दुराचारी, मेरा आश्रय छोड़ते,
माया से बनके भ्रान्त आसुरी भाव पोषते ॥ १५ ॥
चार प्रकार के भक्त पुण्यवान मुझे भजें।
आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, चौथा ज्ञानी परन्तप ॥ १६ ॥
इनमें श्रेष्ठ है ज्ञानी, नित्य युक्त अनन्य जो।
ज्ञानी को मैं बड़ा प्यारा, वह भी त्यों मुझे प्रिय ॥ १७ ॥
हैं ये सन्त सभी तो भी ज्ञानी तो मम-रूप ही।
रहा जो युक्त मेरे में जिस्से श्रेष्ठ नहीं गति ॥ १८ ॥
जन्मों के ज्ञान के बाद पाता जो शरणागति।
जाने 'सर्वं इदं ब्रह्म' सन्त सो विश्व-दुर्लभ ॥ १९ ॥
कामना[1] ने हरा ज्ञान, खोजते अन्य देव जो।
स्वभाववश होके वे उन्के नियम पालते ॥ २० ॥
श्रद्धा से जिन रूपों का जैसा भजन चाहते।
वैसी ही उनकी श्रद्धा स्थिर मैं करता स्वयम् ॥ २१ ॥

१ वासना।

योग से उस श्रद्धा के पूजते उस रूप को।
फिर इच्छित भोगों को पाते हैं मम निर्मित ॥ २२ ॥
वे मन्द-बुद्धि पाते हैं फल जो नाशवान ही।
देवों के भक्त देवों को, मेरे भक्त मुझे मिलें ॥ २३ ॥
मुझ अव्यक्त को व्यक्त मानते बुद्धिहीन जो।
न जानके परंभाव मेरा अव्यय, उत्तम ॥ २४ ॥
ढँका मैं योग-माया से तम-सा विश्व के लिए—
जानते हैं नहीं मूढ़ कि मैं हूँ अज, अव्यय ॥ २५ ॥
हुए जो और होवेंगे या कि जो भूत आज हैं।
सबको जानता मैं हूँ मुझे कोई न जानते ॥ २६ ॥
मन में राग-द्वेषों से उपजा द्वन्द्व मोह जो,
उसने सब भूतों को जग में मोह है लिया ॥ २७ ॥
मिटाये जिनने पाप करके पुण्य कर्म को,
छूटके द्वन्द्व-मोहों से भजें दृढ़व्रती मुझे ॥ २८ ॥
मेरा आश्रय लेके जो करते यत्न मोक्ष का।
जरा-मरण से पाते ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म वे ॥ २९ ॥
अधिभूताधि[1] देवों में मुझे जो अधियज्ञ में—
देखें, प्रयाण[2] में भी, वे जानते योग-चित्त हो ॥ ३० ॥

---

१ अधिभूत तथा अधिदैव में। २ अन्तकाल में।

आठवाँ अध्याय : योगी का देहत्याग

[इसमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ की व्याख्या की गई है और यह बतलाया गया है कि मनुष्य मेरे जिस भाव या रूप में रम जाता है उसीको प्राप्त करता है। अन्त-काल में मनुष्य की कौन-सी स्थिति व भाव वांछनीय है, इसका भी वर्णन किया गया है।]

अर्जुन

किसे हैं कहते ब्रह्म, और अध्यात्म, कर्म क्या ?
अधिभूत कहो कैसा, बताओ अधिदैव भी॥ १॥
अधियज्ञ भला कैसा, कौन है, इस देह में ?
प्रयाण-काल में कैसे आपको जानते यती ?॥ २॥

श्रीभगवान्

अक्षर सो परब्रह्म, अध्यात्म तो स्व-भाव जो।
भूत-सृष्टि करे जो सो व्यापार[1] कर्म है कहा॥ ३॥
अधिभूत विनाशी जो जीवत्व[2] अधिदैवत।
अधियज्ञ स्वतः हूँ मैं देही के देह में यहाँ॥ ४॥
मुझीको करके याद अन्त में देह छोड़ता,
मेरे ही भाव को पाता इसमें संशय है नहीं॥ ५॥
या जिस भाव का ध्यान करके देह छोड़ता
उसीको वह पाता है सदा तद्भाव से भरा॥ ६॥

1 सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय की क्रिया। 2 जीव-भाव।

अतः सदा मुझे याद करके जूझते रहो।
मन-बुद्धि लगा मुझमें पाओगे निश्चय मुझे ॥ ७ ॥

युक्त अभ्यास से चित्त रोकके सर्व ओर से—
सदा चिन्तन से पाता परं पुरुष दिव्य को ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ, शास्ता, कवि, जो पुराण,
है सूक्ष्म से सूक्ष्म अचिन्त्य रूप।
धाता सभी का, पर-अन्धकार,
ध्यावे उसे जो नित सूर्य-वर्ण ॥ ९ ॥

रक्खे लगा चित्त प्रयाण-काल,
त्यों भक्ति-योग-व्रत-निष्ठ होके।
भ्रू[1]-संधि में प्राण समग्र जोड़े।
पावे तभी सो पर दिव्य तत्व ॥ १० ॥

जानें जिसे अक्षर वेदवेत्ता,
विरक्त पाते जिसको सयत्न।
साधें जिसीके हित ब्रह्मचर्य,
तुम्हें बताऊँ वह तत्व-सार ॥ ११ ॥

रूँधके इन्द्रियद्वार, रोकके उर में मन।
चढ़ा ब्रह्माण्ड में प्राण, करके योग-धारणा ॥ १२ ॥
कर ॐ ब्रह्म उच्चार मन से स्मरता मुझे।
त्यागता अपनी देह पाता है सो परा गति ॥ १३ ॥
अनन्य-चित्त जो नित्य भजे सतत ही मुझे।
सदा लौलीन योगी सो पाता सहज ही मुझे ॥ १४ ॥

१ भौंहों के बीच में।

पाये जो मोक्ष की सिद्धि महात्मा भेटके मुझे।
पाते नहीं पुनर्जन्म दुःखालय, अशाश्वत ॥ १५ ॥
ब्रह्मादि लोक-पर्यन्त आना-जाना लगा रहे।
किन्तु पाके मुझे योगी मरता-जन्मता नहीं ॥ १६ ॥
सहस्र युग का होता ब्रह्मा का दिन एक है।
उत्ने ही युग की रात कालोपासक[1] जानते ॥ १७ ॥
होते अव्यक्त[2] से व्यक्त भूत हैं दिन ऊगते।
रात में लय पाते हैं सब अव्यक्त में पुनः ॥ १८ ॥
भूत-संघ सभी ऐसा हो-होके मिटता फिर—
रात में अपने-आप, जन्मता दिन ऊगते ॥ १९ ॥
उस अव्यक्त से ऊंचा अन्य अव्यक्त-भाव है।
सर्व भूत-मिटें तो भी मिटे न जो सनातन ॥ २० ॥
उसे अक्षर अव्यक्त[3] कहा, और परागति,
जहाँ जाके नहीं लौटें मेरा परमधाम सो ॥ २१ ॥
अनन्य भक्ति से प्राप्य पर पुरुष पार्थ, सो।
रहते जिसमें भूत, विस्तारा जिसने जग ॥ २२ ॥
कब, कैसे, यहाँ देह छोड़के निज साधक?
आता संसार में, पाता अथवा सिद्धि, सो सुनो ॥ २३ ॥
ज्योति से दिन शुक्लार्ध उत्तरायण साधके।
जाता सो ब्रह्म को पाता अन्त में ब्रह्म जानके ॥ २४ ॥
धूम्र से रात कृष्णार्ध दक्षिणायन साध के।
जाता सो लौटके आता चन्द्र का लोक पाकर ॥ २५ ॥

१ दिन-रात की विद्या जाननेवाले। २-प्रकृति। ३-अप्रकट, गूढ़

अँधेरा त्यों उजेला—ये दोनों मार्ग अनादि हैं।
छुड़ाता एक, फेरे में डालता दूसरा सदा॥ २६॥
ऐसे ये मार्ग जाने जो, योगी पाता न मोह सो।
अतः पार्थ सदाकाल योग-युक्त बने रहो॥ २७॥
जो यज्ञ में, दान, तथा तपों में,
वेदादि में पुण्य कहा गया है।
सो लाँघता है, यह जान सर्व,।
योगी लहै आदि महान धाम॥ २८॥

नवाँ अध्याय : ज्ञान का सार

[इसमें सृष्टि की उत्पत्ति व लय का तत्त्व बताया है। भक्ति की ओर संकेत करके भक्त को सर्व-श्रेष्ठ साधक कहा है। भक्त अपने को परमात्मा पर छोड़ देता है, अपना सब कुछ उसीका समझता है, इससे वह शीघ्र तन्मय हो जाता और सिद्धि को पाता है। कर्म में अनासक्ति आने के लिए ईश्वर में आसक्ति अर्थात् भक्ति बड़ा उपयोगी साधन है, यह इस अध्याय की शिक्षा है]

श्रीभगवान्

अब जो गुह्य से गुह्य ज्ञान निर्दोष, सो सुनो।
सोहीं विज्ञान के साथ, तारे अशुभ से सदा॥ १॥

राज विद्या, परं-सार, उत्तमोत्तम, पावन,
प्रत्यक्ष, सुख से साध्य, धर्म-सार, सनातन ॥ २ ॥
जो नास्तिक अश्रद्धालु पालें न इस धर्म को।
पाते नहीं मुझे, आते मृत्यु-संसार-मार्ग में ॥ ३ ॥
अव्यक्त-रूप से मैंने व्यापा अखिल विश्व को।
मुझमें रहते भूत, किन्तु मैं उनमें नहीं ॥ ४ ॥
हाँ, न हैं मुझमें भूत, दिव्य योग लखो तुम।
हूँ, कर्त्ता, भूत का भर्त्ता, किन्तु उन्में नहीं कहीं ॥ ५ ॥
आकाश में महावायु सदा सर्वत्र है रहा।
तैसे समस्त ये भूत मुझमें रहते, सुनो ॥ ६ ॥
कल्पान्त में मिलें भूत मेरी प्रकृति में सब।
कल्प—आरम्भ में मैं हूँ फिर से रचता उन्हें ॥ ७ ॥
निज प्रकृति को लेके सृजता मैं पुनः पुनः।
समस्त भूत-संघों को जो हैं प्रकृति के वश ॥ ८ ॥
समस्त कर्म ये तो भी मुझे बाँध सकें नहीं।
कारण, मैं उदासी-सा रहूँ आसक्ति-हीन हो ॥ ९ ॥
मैं साक्षी प्रकृति-द्वारा रचता स-चराचर।
इसीसे सृष्टि का चालू आवागमन-चक्र है ॥ १० ॥
अवज्ञा करते मेरी मूढ़ मानव देह में।
न जानें वे परंभाव, मैं ही भूत-महेश्वर ॥ ११ ॥
वृथा आशा, वृथा कर्म, वृथा ज्ञान कुबुद्धि के।
सम्पत्ति जिनने पाई आसुरी मोहकारिणी ॥ १२ ॥
दैवी सम्पत्ति को लेके महात्मा भजते मुझे।
अनन्य-भाव से जान मुझे भतादि, शाश्वत ॥ १३ ॥

अखण्ड-कीर्तन द्वारा यत्नशील दृढ़व्रती ।
भक्ति से मुझको ध्यावें उपासें नित्य-योग[१] से ॥ १४ ॥
मुझ व्यापक को कोई भजते ज्ञान-यज्ञ से ।
अद्वैत-द्वैत-रूपों में नाना विधि उपासते ॥ १५ ॥
यज्ञ मैं, यज्ञ-संकल्प, मैं स्वधा[२], मैं वनस्पति ।
मन्त्र मैं, हव्य[३] भी मैं ही, अग्नि मैं और आहुति ॥ १६ ॥
धाता हूँ जग का मैं ही, माता, पिता, पितामह ।
पवित्र ज्ञेय[४] ॐ कार ऋक् साम यजुर्वेद मैं ॥ १७ ॥
साक्षी, स्वामी सखा, भर्त्ता, निवास, गति, आश्रय;
उत्पत्ति-प्रलय-स्थान, निधान, बीज, अव्यय ॥ १८ ॥
तपता सूर्य होके मैं, छोड़ता वृष्टि खींचता ।
मृत्यु मैं, मोक्ष भी मैं हूँ, सत् हूँ मैं, असत् तथा ॥ १९ ॥

वेदाभ्यासी सोम पी हो पवित्र,
यज्ञों-द्वारा चाहते स्वर्ग पाना ।
पाके वे यों पुण्य[५] जो इन्द्र-लोक,
देवों के हैं भोगते दिव्य भोग ॥ २० ॥
पाके सारे स्वर्ग के भोग वे हैं,
पुण्यों को खो लौटते मृत्यु-लोक ।
ऐसी निष्ठा धारके वेद-धर्मी,
आना जाना साधते काम-मूढ ॥ २१ ॥

१ सतत योग में रहकर । २ पितरों को अर्पण किया हुआ अन्न । ३ घी । ४ जाननेयोग्य । ५ पाप-रहित ।

अनन्य भाव से ध्याते भजते भक्त जो मुझे।
लीन हैं मुझमें उनका चलाता योग योग-क्षेम मैं ॥ २२ ॥
तैसे जो भक्त श्रद्धा से भजते अन्य देवता।
भजते वे मुझीको हैं, परन्तु विधि छोड़के ॥ २३ ॥
भोक्ता मैं सर्व यज्ञों का फलदाता तथैव मैं।
मेरा तत्त्व नहीं जानें अतः वे गिरते सदा ॥ २४ ॥
देवों के भक्त देवों को, पितृ के भक्त पितृ को।
भूतों के भक्त भूतों को मेरे भक्त मुझे मिलें ॥ २५ ॥
'पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं' जो देते भक्ति से मुझे।
सो मैं पवित्र भक्तों का दिया लेता सुप्रेम से ॥ २६ ॥
जो-जो खाओ, करो, होमो, तथा जो तप आचरो।
दोगे जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण ॥ २७ ॥
इससे छोड़के सर्व कर्म-बन्ध शुभाशुभ,
योग-संन्यास को साध मिलोगे मुक्त हो मुझे ॥ २८ ॥
सम मैं सर्व भूतों में प्रियाप्रिय नहीं मुझे।
तो भी भक्त रहे मुझ में, मैं भी उसमें सु-भक्ति से ॥ २९ ॥
बड़ा यदि दुराचारी भजता है अनन्य हो।
उसको साधु ही मानो जो सुनिश्चय में स्थिर ॥ ३० ॥
होता सो शीघ्र धर्मात्मा पाता है शान्ति शाश्वत।
जानो सत्य, कभी मेरा भक्त पाता न नाश है ॥ ३१ ॥
पाकर आसरा मेरा अज्ञ, स्त्री, वैश्य शूद्र भी।
या पाप-योनि के जीव पाते सर्व परा गति ॥ ३२ ॥

तहाँ ब्रह्मर्षि-राजर्षि इन्की तो बात क्या भला।
दुखी, अनित्य जो लोक पाया तो मुझको भजो ॥ ३३ ॥
मन, भक्ति मुझे दे दो पूजो मुझे, नमो मुझे।
मुझे ही लहोगे ऐसे योग से मत्परायण ॥ ३४ ॥

—o—

दसवां अध्याय: विभूति-वर्णन

[इसमें भगवान का व्यापक रूप व उनकी दिव्य विभूतियाँ बताई गई हैं और यह कह गया है कि भगवान् एक अंश-मात्र से इस संसार-रूप में प्रकट हुए हैं। अधिकांश तो अव्यक्त-अप्रकट ही है। इससे भगवान् की महत्ता व संसार की तथा उसके जीवों की अल्पता सिद्ध होती है और मनुष्य को अभिमान छोड़ कर नम्र बनने की शिक्षा मिलती है।]

श्रीभगवान्

पुनः कहूँ सुनो पार्थ, मेरा वचन उत्तम।
रुचिकारी तुम्हें है, मैं तुम्हारा चाहता हित ॥ १ ॥
न देव जानते मेरा प्रभाव न महर्षि भी।
क्योंकि ब्रह्मर्षि देवों का मैं ही हूँ मूल सर्वथा ॥ २ ॥
जान ले जो अजन्मा मैं, स्वयंभू, विश्व-पालक,
निर्मोह, सो मनुष्यों में छूटता सर्व पाप से ॥ ३ ॥
बुद्धि, निर्मोहता, ज्ञान, सत्यता, शान्ति, निग्रह,
लाभालाभ, भवाभाव,[1] सुख-दुःख, भयाभय ॥ ४ ॥

[1] जन्म और मृत्यु।

तपस्या, दान, सन्तोष, अहिंसा, समता, क्षमा,
मुझी से भूत में पैदा भाव ये भिन्न-भिन्न हैं ॥ ५ ॥
सप्तर्षि, पूर्व के चार मुनि, त्यों चौदहों मनु,
मेरे संकल्प से जन्मे जिन्की है लोक में प्रजा ॥ ६ ॥
जो जाने तत्वतः मेरी ऐसी योग-विभूतियाँ—
उन्हें निष्कम्प[1] सो योग मिले मेरा न संशय ॥ ७ ॥
मुझमें सब का मूल मुझीसे प्रेरणा सब—
भक्ति से जानके ऐसा बुध हैं भजते मुझे ॥ ८ ॥
चित्त-प्राण लगा मुझमें, बोध देते परस्पर,
मेरे कीर्तन में मग्न, हर्ष से मुझ में रमें ॥ ९ ॥
यों जो रँगे रहें नित्य भजते प्रीति-पूर्वक—
उन्को सो बुद्धि का योग देता, जिस्से मिलें मुझे ॥ १० ॥
करुणा-पूर्ण हो उन्के उर में स्थित मैं स्वयं—
अज्ञानतम को मेटूँ तेजस्वी ज्ञान-दीप से ॥ ११ ॥

अर्जुन

परंब्रह्म, परंधाम, आप हो श्रेष्ठ, पावन,
आत्मा, नित्य, अजन्मा हो देवेश, विभु, अद्भुत ॥ १२ ॥
ऋषि हैं एक हो गाते एवं असित, देवल,
व्यास, नारद देवर्षि कहते आप भी स्वयम् ॥ १३ ॥
मानता सत्य हूँ सारा कहेंगे आप जो मुझे।
देव दानव कोई न आपका रूप जानते ॥ १४ ॥

[1] अडिग।

जानते आप ही उसको प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम।
देव-देव, जगन्नाथ, भूतेश, भूत-भावन ॥ १५ ॥
विभूति अपनी दिव्य बताओ सर्व ही मुझे।
जिनसे व्याप्त हो सारे विश्व में आप छा रहे ॥ १६ ॥
योगेश, आपको कैसे जानूँ सतत ध्यान में?
कौन-कौन स्वरूपों में आपकी धारणा करूँ? ॥ १७ ॥
वे विभूति, वही योग, कहो निज सविस्तर—
फिर से, है नहीं तृप्ति सुनके वचनामृत ॥ १८ ॥

श्रीभगवान्

तो कहूँ लो सुनो, मेरी मुख्य दिव्य विभूतियाँ;
क्योंकि अन्त नहीं आता मेरे विस्तार का कभी ॥ १९ ॥
सबके हृदयों में हूँ रहता आत्म-रूप से।
आदि मैं सर्वभूतों का मध्य मैं, अन्त भी तथा ॥ २० ॥
आदित्यों में महाविष्णु, सूर्य मैं ज्योति-लोक में।
मरीचि मरुतों में हूँ, नक्षत्रों में तथा शशी ॥ २१ ॥
इन्द्र मैं देवताओं में, वेदों में सामवेद हूँ।
भूतों में चेतना मैं हूँ, इन्द्रियों में तथा मन ॥ २२ ॥
कुबेर यक्ष-रक्षों में, रुद्रों में हूँ सदाशिव।
अग्नि मैं वसुओं में हूँ, मेरु हूँ उच्च वस्तु में ॥ २३ ॥
जो पुरोहित हैं उनमें मुख्य हूँ मैं बृहस्पति।
सेनानीगण में स्कन्ध समुद्र जल-राशि में ॥ २४ ॥
ॐ एकाक्षर वाणी में महर्षिगण में भृगु।
जप हूँ सर्व यज्ञों में स्थावरों में हिमालय ॥ २५ ॥

अश्वत्थ सर्व वृक्षों में देवर्षि-मध्य नारद।
हूँ चित्ररथ गन्धर्व, सिद्धों में सांख्यकार मैं॥ २६॥
उच्चैःश्रवा हयों में हूँ अमृतोत्पन्न जो सुनो।
ऐरावत गजेन्द्रों में नरों में हूँ नराधिप॥ २७॥
हूँ कामधेनु गायों में, वज्र हूँ शस्त्र-अस्त्र में।
उत्पत्ति-हेतु मैं काम, हूँ सर्पोत्तम वासुकि॥ २८॥
नागों में श्रेष्ठ हूँ शेष, तथा वरुण वारि में।
अर्यमा पितरों में हूँ, शासकों में तथा यम॥ २९॥
प्रह्लाद दैत्य लोगों में, काल मापक-वर्ग में।
श्वापदों में तथा सिंह, खगों में वैनतेय[1] हूँ॥ ३०॥
राम हूँ शस्त्र-वीरों में, वायु मैं वेगवान में।
मत्स्यों में हूँ तथा नक्र, गंगा सरित-जाति में॥ ३१॥
सृष्टि का मूल मैं मध्य और हूँ अन्त भी सुनो।
विद्या में आत्मविद्या हूँ, वक्ता का तत्त्ववाद मैं॥ ३२॥
द्वन्द्व हूँ मैं समासों में, अक्षरों में अकार हूँ।
तैसे ही काल अक्षय्य विश्वकर्त्ता विराट मैं॥ ३३॥
सर्वनाशक मैं मृत्यु, जन्म मैं होनहार का।
वाणी, श्री, कीर्ति नारीमें, क्षमा, मेधा, धृति, स्मृति॥ ३४॥
सामों में मैं बृहत्साम, गायत्री छन्द-पुञ्ज में।
हूँ मार्गशीर्ष[2] मासों में ऋतुओं में वसन्त हूँ॥ ३५॥
ठगों में द्यूत विद्या हूँ, तेज हूँ तेजवान में।
सत्त्व मैं सात्विकों में हूँ, जय हूँ और निश्चय॥ ३६॥

१—गरुड़ २—अगहन

कृष्ण मैं वृष्णियों में हूँ, पाण्डवों में धनञ्जय।
व्यास मैं मुनियों में हूँ, शुक्र हूँ कविपुंज में ॥ ३७ ॥
दण्ड हूँ दण्डधारी का, धर्म मैं जय-इच्छु का,
गुह्यों में मौन हूँ श्रेष्ठ, ज्ञान हूँ ज्ञानवान का ॥ ३८ ॥
तैसे ही सर्वभूतों का बीज ही जान लो मुझे।
मेरे विना नहीं कोई जग में लेश-मात्र है ॥ ३९ ॥
नहीं अन्त कभी आवे मेरी दिव्य विभूति का।
तो भी विभूति-विस्तार थोड़े में यह है कहा ॥ ४० ॥
जो किसी वस्तु में कोई कान्ति, वीर्य, विभूति वा।
जानो सो सब ही मेरे तेज के अंश से हुआ ॥ ४१ ॥
अथवा और क्या पार्थ करोगे जानके तुम ?
एक ही अंश से सारे विश्व में व्याप्त हूँ, सुनो ॥ ४२ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय : विराट् दर्शन

[जिस विराट् रूप का शब्दों द्वारा पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है उसीका प्रत्यक्ष दर्शन यहाँ कराया गया है। अंत में सौम्य रूप का पुनः दर्शन चाहने की अर्जुन की प्रार्थना सूचित करती है कि मनुष्य को ईश्वर का सौम्यरूप ही अधिक प्रिय है।]

अर्जुन

आपने आत्म-विद्या का मेरे अनुग्रहार्थ जो—
परं गूढ कहा उससे मेरा मोह चला गया ॥ १ ॥
उत्पत्ति, नाश भूतों का सुना मैंने सविस्तर।
आपसे आपकी जानी अखण्ड महिमा प्रभो ॥ २ ॥

अश्वत्थ सर्व वृक्षों में देवर्षि-मध्य नारद।
हूँ चित्ररथ गन्धर्व, सिद्धों में सांख्यकार मैं॥ २६॥
उच्चैःश्रवा हयों में हूँ अमृतोत्पन्न जो सुनो।
ऐरावत गजेन्द्रों में नरों में हूँ नराधिप॥ २७॥
हूँ कामधेनु गायों में, वज्र हूँ शस्त्र-अस्त्र में।
उत्पत्ति-हेतु मैं काम, हूँ सर्पोत्तम वासुकि॥ २८॥
नागों में श्रेष्ठ हूँ शेष, तथा वरुण वारि में।
अर्यमा पितरों में हूँ, शासकों में तथा यम॥ २९॥
प्रह्लाद दैत्य लोगों में, काल मापक-वर्ग में।
श्वापदों में तथा सिंह, खगों में वैनतेय[1] हूँ॥ ३०॥
राम हूँ शस्त्र-वीरों में, वायु मैं वेगवान में।
मत्स्यों में हूँ तथा नक्र, गंगा सरित-जाति में॥ ३१॥
सृष्टि का मूल मैं मध्य और हूँ अन्त भी सुनो।
विद्या में आत्मविद्या हूँ, वक्ता का तत्त्ववाद मैं॥ ३२॥
द्वन्द्व हूँ मैं समासों में, अक्षरों में अकार हूँ।
तैसे ही काल अक्षय्य विश्वकर्त्ता विराट मैं॥ ३३॥
सर्वनाशक मैं मृत्यु, जन्म मैं होनहार का।
वाणी, श्री, कीर्ति नारीमें,-क्षमा, मेधा, धृति, स्मृति॥ ३४॥
सामों में मैं बृहत्साम, गायत्री छन्द-पुञ्ज में।
हूँ मार्गशीर्ष[2] मासों में ऋतुओं में वसन्त हूँ॥ ३५॥
ठगों में द्यूत विद्या हूँ, तेज हूँ तेजवान में।
सत्त्व मैं सात्विकों में हूँ, जय हूँ और निश्चय॥ ३६॥

१—गरुड २—अगहन

अनन्त-रूप का विश्व मानो एकस्थ हो रहा—
देह में जगदात्मा के, दृश्य-सा पार्थ ने लखा ॥ १३ ॥
तब विस्मय को प्राप्त रोमाञ्चित धनञ्जय
प्रभु से जोड़के हाथ बोला यों नत-मस्तक—॥ १४ ॥

अर्जुन

हे देव दीखें तव देह में, लो,
एकत्र देवों-सह भूत संघ।
महेश, ब्रह्मा कमलासनस्थ,
समस्त दीखें ऋषि, दिव्य सर्प ॥ १५ ॥
अनेक आँखें, मुख, हाथ, पेट,
जहाँ-तहाँ दिव्य अनेक मूर्ति।
है दीखता अन्त, व मध्य, मूल,
कहीं न, विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
प्रभो, गदाचक्र-किरीटि-धारी।
प्रकाश सर्वत्र तव प्रचण्ड—
आँखें नहीं देख सकें अपार,
हैं दीप्त जिस्से यह अग्नि-सूर्य ॥ १७ ॥
तू है परं अक्षर, ज्ञेय तत्त्व,
है विश्व का अन्तिम आसरा तू।
तू ही सदा शाश्वत-धर्मगोप्ता[1],
हूँ मानता तू परमात्व-तत्त्व ॥ १८ ॥

1—धर्म-रक्षक।

न आदि-मध्यान्त, अनन्त-शक्ति,
भुजा अनेकों, शशि-सूर्य-नेत्र।
प्रदीप्त तेरा मुख अग्नि-सा है,
स्व-तेज से विश्व तपा रहा है ॥ १६ ॥

दशों दिशा विस्तृत अन्तराल—
इन्में तुही व्याप रहा अकेला।
विलोक के अद्भुत उग्ररूप,
हे देव, हैं व्याकुल तीन लोक ॥ २० ॥

ये देव सारे तुझमें समाते,
प्रार्थी कई हैं भय-बद्ध-हस्त।
कल्याण गाके ऋषि-सिद्ध-संघ,
तुझे सुनाते स्तुति हैं अनेक ॥ २१ ॥

आदित्य, विश्वे, वसु, रुद्र, साध्य,
कुमार दोनों, पितृदेव, वायु,
गन्धर्व-दैत्यों-सह यक्ष सिद्ध,
सारे तुझे विस्मित देखते हैं ॥ २२ ॥

असीम है रूप, अनेक नेत्र,
अनेक जाँघें मुख, हाथ, पाँव,
अनेक हैं पेट, कराल डाढ़,
हैं देखके व्याकुल लोक, मैं भी ॥ २३ ॥

आकाश-चुम्बी बहु-वर्ण-युक्त
विशाल आँखें मुख खोलके तू—

हैं दीप्त, जिनको लख जीव मेरा
हो भीत, लो, धीरज शान्ति खोता ॥ २४ ॥

कराल डाढ़ मुख है ज्वलन्त
सो देखते ही प्रलयाग्नि जैसे—
दिशा न सूझें, सुख शान्ति भागी,
प्रसन्न हो, देव, जगन्निवास ॥ २५ ॥

कैसे, लखो, ये धृतराष्ट्र-पुत्र
बटोरके राज-समूह सारे—
क्या भीष्म, क्या द्रोण, तथैव कर्ण,
देखो हमारे सब वीर भी ये—॥ २६ ॥

जाते त्वरा से मुख की तुम्हारे
कराल-सी भीषण डाढ़ में हैं।
दाँतों तले मस्तक आ दबे जो
लो चूर्ण होते दिखते सभी हैं ॥ २७ ॥

जैसे नदी के प्रचुर प्रवाह
सु-वेग से सागर ओर दौड़े—
तैसे मुखों में तव प्रज्वलन्त
हैं दौड़ जाते नरवीर सारे ॥ २८ ॥

सवेग जैसे उड़ते पतङ्ग
आ-आ स्वयं दीपक पै जलाते।
तैसे मुखों में तव लोक सारे
हैं नाश को आ गिरते सवेग ॥ २९ ॥

तू लील के लोक [illegible]
स्वजिह्वा से ओष्ठ ज्वल[illegible]
तेरा महा व्यापक उग्र ताप
छाके सभी विश्व जला रहा है ॥ ३० ॥

हो कौन, बोलो, तुम उग्र-रूप ?
नमूँ तुम्हें देव प्रसन्न होत्र्यो ।
हूँ जानने उत्सुक, आदिदेव,
न ध्यान आती करनी तुम्हारी ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान्

मैं काल लोकान्तक वृद्धि पाया
खाने हुआ सज्ज यहाँ जनों को।
बिना तुम्हारे सब नष्ट होंगे
दोनों दलों के यह वीर सारे ॥ ३२ ॥

अतः उठो, प्राप्त करो सुकीर्ति,
लो जीत, निष्कण्टक राज्य भोगो।
मारे गये पूर्व सभी मुझी से
निमित्त होओ, बस, सव्यसाची ॥ ३३ ॥

क्या द्रोण, क्या भीष्म, जयद्रथादि,
कर्णादि को मार चुका स्वयं हूँ।
मारो इन्हें, हाँ, अब नाम को, ही
निःशंक जूझो, जय है तुम्हारी ॥ ३४ ॥

संजय

यों पार्थ, राजा! सुन कृष्ण-वाक्य,
सभीत हो कम्पित, हाथ जोड़,
बोला पुनः सो, करके प्रणाम
श्री कृष्ण को, गद्गद् कण्ठ होके ॥ ३५ ॥

अर्जुन—

है योग्य ही कीर्तन से तिहारे
आनन्द वर्षे जग प्रेम छाये।
दशों दिशा राक्षस भीत भागें,
ये बन्दते सिद्ध-समूह सारे ॥ ३६ ॥
प्रभो, नहीं क्यों तुझको नमे ये?
तू आदिकर्त्ता, गुरु का गुरू तू।
आधार तू, अक्षर तू, अनन्त,
है भी, नहीं भी, सबसे परे तू ॥ ३७ ॥
तू देव है आदि, पुराण, आत्मा,
है विश्व का अन्तिम आसरा तू।
ज्ञातव्य, ज्ञाता, परधाम तू है,
तू विश्व में व्याप्त, अनन्तरूप ॥ ३८ ॥
तू अग्नि, तू वायु, समस्त देव,
प्रजापते, तू प्रपिता महा है।
तुझे नमस्कार सहस्र बार,
पुनः नमस्कार पुनः पुनः है ॥ ३९ ॥

आगे व पीछे चहुँओर से है,
तुझे नमस्कार, जहाँ तहाँ तू।
उत्साह, सामर्थ्य, अनन्त तेरा;
तू सर्व में व्याप्त, सभी तुझी में ॥ ४० ॥

समानता से, अविनीत हो के
'हे कृष्ण, हे मित्र' तुझे पुकारा।
न जानके, हाँ, महिमा तिहारी,
बोला तुझे प्रेम-प्रमाद में जो—॥ ४१ ॥

विनोद में, भोजन खेल में वा;
सोते-जगाते अपमान तेरा—
एकान्त में वा जन में हुआ हो,
कीजे क्षमा सो सब अप्रमेय[1] ॥ ४२ ॥

तू है पिता लोक-चराचरों का,
तू पूज्य एवं गुरु से बड़ा है।
तुझसा न कोई, गुरु तो कहाँ से ?
त्रिलोक में तू अनुप-प्रभाव[2] ॥ ४३ ॥

प्रणाम साष्टांग अतः करूँ मैं,
प्रसन्न हो हे स्तवनीय[3] मूर्ते !
कीजे क्षमा तू मुझ बाल को यों
सखा सखा को, प्रिय ज्यों प्रिया को ॥ ४४ ॥

१—जो समझ में न आसके २—जिसके प्रभाव या शक्ति की उपमा न दी जा सके ३—स्तुति करनेयोग्य।

अपूर्व को देख अपार हर्ष
है, भीति से व्याकुल चित्त तो भी।
अतः दिखा दे फिर सो स्वरूप;
प्रसन्न हो देव, जगन्निवास ॥ ४५ ॥

लो धारके चक्र, गदा, किरीट,
चाहूँ लखा मैं तव रूप ऐसा।
ले ये छिपा सर्व अनन्त बाहु,
चारों भुजा ले सज विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवान्

प्रसन्न होके रच दिव्य योग,
तुम्हें दिखाया यह विश्वरूप।
अनन्त तेजोमय, आदि, नित्य,
देखा तुम्हें छोड़ न अन्य ने है ॥ ४७ ॥

न देव से, यज्ञ न दान से ही,
स्वाध्याय से, उग्र तपःक्रिया से,
पावे न कोई यह रूप मेरा
सिवा तुम्हारे जग में सुवीर ॥ ४८ ॥

होओ नहीं व्याकुल, मूढ़बुद्धि,
हाँ, देखके रूप कराल मेरा।
प्रसन्नता से भय छोड़के लो,
देखो वही जो प्रिय पूर्व-रूप ॥ ४९ ॥

संजय

यों बोलके श्रीहरि ने दिखाया पुनः वही अर्जुन को स्वरूप।
देने तथा ढारस भीत को सो हुआ पुनः सौम्य-शरीर देव ॥५०॥

अर्जुन

देखके आपका सौम्य मानुषी रूप माधव!
चेतना, स्वस्थता आई, स्वभावस्थ हुआ पुनः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान्

तुम्हें यह हुआ मेरा अति दुर्लभ दर्शन।
रखके जिसकी आशा सिहाते नित्य देव हैं ॥ ५२ ॥
यज्ञ, दान, तपों से या वेदाध्ययन आदि से
जो न दर्शन हो मेरा, वही यह मिला तुम्हें ॥ ५३ ॥
अनन्य भक्ति से तो भी तत्वतः यह शक्य है—
जानना, देखना तैसे समाना मुझमें पुनः ॥ ५४ ॥
मेरे अर्थ करे कर्म, मत्परायण भक्त जो,
जो अनासक्त, निर्वैर, सो आके मिलते मुझे ॥ ५५ ॥

बारहवां अध्याय : भक्ति-तत्त्व

[इसमें साधना के उत्तरोत्तर सरल मार्ग बताये हैं। अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान, ध्यान से कर्मफल त्याग; दूसरे शब्दों में, भक्ति को श्रेष्ठ माना है। इसीको सबसे सुगम उपाय कहा है। भक्त के लक्षण भी विस्तार से बताकर साधक का मार्ग और सुलभ कर दिया है।]

अर्जुन

नित्ययुक्त हुए ऐसे आपको भक्त जो भजें,
या सेवें ब्रह्म अव्यक्त, इनमें कौन उत्तम ? ॥ १ ॥

श्रीभगवान्

लगाके मन मेरे में मुझको नित्य युक्त हो।
भजते पूर्ण श्रद्धा से उनको श्रेष्ठ मानता ॥ २ ॥
तो भी अचिन्त्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अलक्षण[1]।
नित्य, निश्चल, निर्लिप्त जो अक्षर उपासते ॥ ३ ॥
रोकते इन्द्रियाँ सारी सर्वत्र सम-बुद्धि हो—
पाते सो मुझको ही हैं विश्व के हित में रत ॥ ४ ॥
अव्यक्त में लगाते लौ उन्हें क्लेश-विशेष है।
बड़े ही श्रम से देही पाता अव्यक्त में गति ॥ ५ ॥
चढाके सब ही कर्म मुझको, मत्परायण-
अनन्य योग से मेरा करे ध्यान, उपासना ॥ ६ ॥
पिरोया मुझमें चित्त उनको शीघ्र मैं स्वयं।
संसार-सिन्धु से पार्थ ! तारता मृत्यु मारके ॥ ७ ॥
लगाओ मन मेरे में, बुद्धि भी मुझमें रखो,
जिससे फिर निःशंक, मुझीमें मिल जावोगे ॥ ८ ॥
यदि असाध्य हो मुझमें चित्त को करना स्थिर,
अभ्यास[2]-योग के द्वारा तो चाहो मिलना मुझे ॥ ९ ॥

१—जिसकी कोई पहाचन न बताई जा सके। २—बार बार प्रयत्न करना।

अभ्यास भी न हो पावे अर्पो कर्म सभी मुझे।
तो मिलेगी तुम्हें सिद्धि मदर्थ[1] कर कर्म को ॥ १० ॥
न बने कर्म भी ऐसे तो मम योग साधके।
सर्व कर्म-फल-त्याग करो नियम में रह ॥ ११ ॥
श्रेष्ठ अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है।
ध्यान से फल का त्याग, त्याग से शान्ति सत्वर ॥ १२ ॥
अद्वेष सर्वभूतों में मैत्री व करुणा, क्षमा,
ममता न अहंकार, समान सुख-दुःख में ॥ १३ ॥
सदा सन्तुष्ट जो योगी जितात्मा दृढ़निश्चयी
मन, बुद्धि मुझे सौंपी, भक्त सो प्रिय है मुझे ॥ १४ ॥
जिस्से न क्षोभ लोगों को, क्षोभें जिस्से न लोग भी।
हर्ष, शोक, भय, क्रोध नहीं, सो प्रिय है मुझे ॥ १५ ॥
नहीं व्यथा, उदासीन, दक्ष, निर्मल, निःस्पृह।
कर्मारम्भ सभी छोड़े भक्त सो प्रिय है मुझे ॥ १६ ॥
नहीं उल्लास-सन्ताप, नहीं शोक, नहीं स्पृहा,
शुभाशुभ-परित्यागी, भक्त सो प्रिय है मुझे ॥ १७ ॥
सम है शत्रु-मित्रों में तैसे मानापमान में,
शीतोष्ण, सुख-दुःखों में सम, आसक्ति-हीन जो ॥ १८ ॥
निन्दा वा स्तुति में तुल्य, मौनी, सन्तुष्ट सर्व में।
स्थिरबुद्धि निरालम्बी[2] भक्त सो प्रिय है मुझे ॥ १९ ॥
धर्मामृत यही नित्य हो श्रद्धायुत, मत्पर-
सेवता जो वही भक्त अतीव प्रिय है मुझे ॥ २० ॥

१—मेरे लिए। २—ईश्वरके सिवा दूसरी वस्तु पर जिसका अवलम्बन न हो।

तेरहवां अध्याय : क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार

[इसमें शरीर और आत्मा के पारस्परिक संबंध का तत्व तथा ज्ञान एवं अज्ञान के लक्षण बताये हैं। प्रकृति, आत्मा और परमात्मा का विज्ञान भी स्पष्ट किया गया है।]

श्रीभगवान्

इस शरीर को पार्थ, कहते क्षेत्र विज्ञ हैं।
क्षेत्र को जानता जो है उसे क्षेत्रज्ञ है कहा ॥ १ ॥
मैं ही क्षेत्रज्ञ सो जानो, रहता सर्व क्षेत्र में।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद जानना, ज्ञान मैं कहूँ ॥ २ ॥
क्षेत्र कौन, कहाँ, कैसा, कैसे विकार से युत ?
कौन क्षेत्रज्ञ ? क्या शक्ति? थोड़े में मुझसे सुनो ॥ ३ ॥
ऋषियों ने इसे गाया छन्दों में भिन्न-भिन्न है।
ब्रह्म-सूत्र पदों में भी सप्रमाण सुनिश्चित ॥ ४ ॥
पाँच भूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त मूल जो।
जिनको इन्द्रियाँ ग्यारह खेंचें विषय—पञ्चक ॥ ५ ॥
धृति, पिण्ड, स्पृहा-द्वेष, सुख-दुःख व चेतना।
विकार-युक्त है क्षेत्र थोड़े में तुमसे कहा ॥ ६ ॥
नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा।
पावित्र्य, गुरु-शुश्रूषा, स्थिरता, आत्म-संयम ॥ ७ ॥
निरंहकारिता तैसे विषयों से विरक्तता।
जन्य-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-विचारणा ॥ ८ ॥

निःसंग वृत्ति कर्मों में पुत्रदार-अलिप्तता ।
इष्टानिष्ट-प्रसंगों में अखण्ड सम-चित्तता ॥ ६ ॥
मुझे अनन्यता-युक्त भक्ति निष्काम, निश्चल,
एकान्तवास में प्रीति अप्रीति जन-संग में ॥ १० ॥
अध्यात्म-ज्ञान में निष्ठा तत्वतः ज्ञेय-दर्शन,
कहा है इसको ज्ञान, अज्ञान विपरीत जो ॥ ११ ॥
बताता ज्ञेय हूँ जिसके ज्ञान से अमृतत्त्व है।
अनादि जो परब्रह्म, न तो 'है' वा 'नहीं' कहा ॥ १२ ॥
सर्वत्र दीखते जिसके हाथ, पाँव तथा सिर।
मुख, कान तथा आँखें, व्यापके सर्व, शेष जो ॥ १३ ॥
हो निरिन्द्रिय भी, भासें सर्व इन्द्रिय के गुण।
होके अलिप्त भी भर्ता, भोगके गुण, निर्गुण ॥ १४ ॥
बहिरन्तर भरा जो है, चैतन्य-जड़ में तथा।
पास भी दूर भी है जो, ज्ञेय सूक्ष्मत्व से नहीं ॥ १५ ॥
है अविभक्त भूतों में तो भी दीखे विभक्त-सा।
कर्त्ता है सर्वभूतों का, धर्त्ता, संहारता तथा ॥ १६ ॥
ज्योति जो ज्योतियों की है कहा है तम से परे।
ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य, सब के उर में बसा ॥ १७ ॥
ज्ञान, ज्ञेय तथा क्षेत्र थोड़े में है कहा यह।
जानता भक्त जो मेरा, पाता सायुज्य सो मम ॥ १८ ॥
पुरुष-प्रकृती की है जोड़ी जानो अनादि ही।
होते प्रकृति से सारे विकार, गुण सर्व ये ॥ १६ ॥

कार्य, कारण, कर्तृत्व कहा प्रकृति से गया।
भोक्तृत्व सुख-दुःखों का पुरुषाधीन है कहा ॥ २० ॥
प्रकृतिस्थ रहा जो है, भोगता उसके गुण।
गुण-संग सदा उसको देता जन्म शुभाशुभ ॥ २१ ॥
सर्वसाक्षी, अनुज्ञाता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर।
पुरुष देह में जो है परमात्मा उसे कहा ॥ २२ ॥
जाने पुरुष तैसे यों प्रकृति को गुणों-सह।
सर्व कर्म करे तो भी पाता जन्म नहीं कभी ॥ २३ ॥

देखते ध्यान से कोई आत्मा को निज में स्वयं।
ज्ञान के योग से कोई, कोई है कर्म-योग से ॥ २४ ॥
न जान के स्वयं कोई अन्य से सुनते उसे।
श्रद्धा से बर्त्तते तैसे वे भी मृत्यु तरें सही ॥ २५ ॥
उपजे लोक में जो-जो सत्त्व स्थावर-जंगम।
बना है जान लो सर्व क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग से ॥ २६ ॥
समान सर्वभूतों में रहता है परमेश्वर।
अनाशी नाशवानों में जो देखे देखता वही ॥ २७ ॥
देखता-'प्रभु सर्वत्र भरा है सम' सो स्वयम्;
आत्मा की न करे हिंसा, पाता है गति उत्तम ॥ २८ ॥
सर्वत्र प्रकृति के द्वारा होते हैं सर्व कर्म ये।
आत्मा स्वयं अ-कर्त्ता है, जाने सो जानता वही ॥ २९ ॥
पृथक् अस्तित्व जीवों का देखे जो एक में स्थित—
उसीसे सब विस्तार—तभी ब्रह्म-दशा मिले ॥ ३० ॥

अव्ययी परमात्मा को नहीं आदि तथा गुण ।
अतः देहस्थ होके भी अकर्त्ता व अलिप्त है ॥ ३१ ॥
व्यापके सर्व आकाश सूक्ष्मता से न लिप्त है ।
सर्वत्र देह में व्याप्त आत्मा तैसे अलिप्त है ॥ ३२ ॥
जैसे एक ही सूर्य तीनों लोक प्रकाशता,
क्षेत्री त्यों क्षेत्र को सारे करता है प्रकाशित ॥ ३३ ॥
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद भूत, प्रकृति, मोक्ष, यों
जानते ज्ञान-नेत्रों से जो सो ब्रह्मत्व साधते ॥ ३४ ॥

चौदहवां अध्याय : त्रिगुण-निरूपण

[इसमें पुरुष-प्रकृति का संबन्ध तथा प्रकृति के तीन गुणों का निरूपण करके त्रिगुणातीत के लक्षण बताये गये है । तीनों गुणों से परे होने के लिए भक्ति तथा एकनिष्ठा पर जोर दिया है ।]

श्रीभगवान्

श्रेष्ठ जो ज्ञान में सर्व बताता हूँ तुम्हें पुनः ।
जानके जिसको मोक्ष पा गये सब ही मुनि ॥ १ ॥
इस ही ज्ञान के द्वारा पाये हैं मम भाव को ।
उन्हें न सर्ग में जन्म, नहीं प्रलय में व्यथा ॥ २ ॥
मेरा क्षेत्र महद् ब्रह्म उसमें मैं बीज डालता ।
उससे सर्वभूतों की होती उत्पत्ति सर्वदा ॥ ३ ॥
जितनी जन्म लेती हैं मूर्त्तियाँ सर्व योनि में
माता प्रकृति है उनकी, पिता मैं बीज-दायक ॥ ४ ॥

होते प्रकृति से ही हैं गुण सत्त्व-रजस्तम।
वे ही अव्यय आत्मा को बाँधते देह में सदा ॥ ५ ॥
उन्में निर्मल सो सत्त्व निरामय प्रकाशक,
सुख के ज्ञान के संग, बाँधे आसक्ति से सदा ॥ ६ ॥
रज है वासना-रूप, तृष्णा-आसक्ति-वर्द्धक।
यही है करता बद्ध आत्मा को कर्म-संग से ॥ ७ ॥
तम करता मोहान्ध है जो अज्ञान-मूलक।
प्रमाद, नींद, आलस्य इनसे घेर बाँधता ॥ ८ ॥
सुख में डालता सत्त्व, रज है कर्म में तथा।
तम है ज्ञान को ढाँक डालता त्यों प्रमाद में ॥ ९ ॥
जीतके अन्य दोनों को बढ़ता तीसरा गुण।
ऐसे बढ़े कभी सत्त्व, कभी रज, कभी तम ॥ १० ॥
प्रज्ञा का इन्द्रियों द्वारा प्रकाश चहुँ ओर है—
जब शरीर में फैला, सत्त्व जानो बढ़ा हुआ ॥ ११ ॥
प्रवृत्ति, लालसा, लोभ, कर्मारम्भ, अशान्तता,
देह में जब ही व्यापे रज जानो बढा हुआ ॥ १२ ॥
अँधेरा, मोह, आलस्य, प्रमाद, जब ही कभी—
सर्वत्र देह में छाये, तम जानो बढा हुआ ॥ १३ ॥
सत्त्व के बढ़ने पे जो छोड़ता निज देह को
उत्तम ज्ञानवानों के पवित्र लोक में चढे ॥ १४ ॥
कर्म-संगी जनों में है जन्मता रजलीन जो।
डूबता तम में जो है जन्मता मूढ़ योनि में ॥ १५ ॥

फल सात्विक कर्मों का पुण्य, निर्मल है कहा।
रज का फल है दुःख, अज्ञान तम का फल ॥ १६ ॥
सत्त्व से उपजे काम, रज से लोभ जन्मता।
प्रमाद, मोह, अज्ञान, होते हैं तम से सदा ॥ १७ ॥
सत्त्वस्थ चढ़ते ऊँचे, राजसी मध्य में रहें।
हीन-वृत्ति-गुणोंवाले गिरते लोग तामसी ॥ १८ ॥
गुणों सिवा नहीं कर्त्ता, आत्मा तो गुण से परे;
इसे जो जानता ज्ञानी पाता सो मम भाव को ॥ १९ ॥
देह कारण जो तीनों गुण जाता उन्हें तर।
जन्म, मृत्यु, जरा, दुःख, छोड़के मोक्ष भोगता ॥ २० ॥

अर्जुन

त्रिगुणातीत जो देव, उनके चिह्न कौन-से?
आचार उनका कैसा? कैसे वे गुण से तरें? ॥ २१ ॥

श्रीभगवान्

प्रकाश, मोह, उद्योग, तीनों को पा निसर्गतः—
है नहीं करता खेद, न चाहे जो निवृत्ति को ॥ २२ ॥
रहे मानों उदासीन, गुणों से न चले कभी।
उन्हींका जानके खेल, लेश-मात्र डिगे नहीं ॥ २३ ॥
सम दुःख-सुख, स्वस्थ, "सम लोष्ठाश्मकाञ्चनः"
धीर है स्तुति-निन्दा में, प्रिय-अप्रिय में सम ॥ २४ ॥
मानापमान में तुल्य, तुल्य है शत्रु-मित्र में।
छोड़ा आरम्भ है जिस्ने गुणातीत उसे कहा ॥ २५ ॥

अखण्ड मुझको सेवे भक्ति से एकनिष्ठ जो
सो तीनों गुण को लाँघ, पात्र है ब्रह्म-भाव के ॥ २६ ॥
ब्रह्म की स्थिति हूँ मैं ही, मैं मोक्ष-स्थिति शाश्वत ।
वैसे शाश्वत धर्मों की, अत्यन्त सुख की स्थिति ॥ २७ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय : पुरुषोत्तम-स्वरूप

[इसमें संसार की उपमा पीपल के उल्टे वृक्ष से, जिसके आदि, मध्य, अन्त किसीका पता नहीं है, देकर उसे वैराग्य-रूपी कुल्हाड़ी से काटने की प्रेरणा की गई है । साथ ही क्षर-अक्षर से परे पुरुषोत्तम-स्वरूप का निरूपण कर द्वन्द्व-मोह आदि को मिटा परमात्म-तत्व को जानने का उपदेश दिया गया है ।]

श्रीभगवान्

शाखा नीचे जड़ें ऊँची नित्य अश्वत्थ है कहा ।
वेद हैं जिसके पत्ते, जाने, सो वेद जानता ॥ १ ॥
है शाख फैली उसमें तु-ऊँची,
हैं भोग-कल्ले गुण-पुष्ट सारे ।
नीचे जड़ें हैं निकलीं नवीन,
भू-लोक में है दृढ़ कर्म-बद्ध ॥ २ ॥
इसका यहाँ रूप दिखे न सत्य,
न आदि, त्यों मध्य, न अन्त भासे ।
ले हाथ वैराग्य-कुठार तीव्र,
काटो इसे जो दृढ़-मूल वृक्ष ॥ ३ ॥

खोजो उसीको पद श्रेष्ठ जो है,
जाके जहाँ को फिर से न आना।
पाओ उसे जो परमात्म-तत्त्व,
जहाँ प्रवृत्ति स्फुरिता अनादि ॥ ४ ॥
जो मान मोहादिक संग-दोष
धोके, मिटा काम, सु-आत्म-निष्ठ।
न द्वन्द्व जिन्में सुख-दुःख-मूल,
वे प्राप्त पाते पद नित्य जो हैं ॥ ५ ॥
न प्रकाशे उसे सूर्य, बात क्या चन्द्र, अग्नि की ?
जहाँ जाके नहीं आता मेरा परमधाम सो ॥ ६ ॥

जग में अंश मेरा ही हुआ जीव सनातन—
खींचे प्रकृति में से सो मन त्यों पाँच इन्द्रियाँ ॥ ७ ॥
वायु पुष्पादिकों से है खींचती गन्ध को यथा—
तैसे ही इनको लेके देह पावे, तजे, प्रभु ॥ ८ ॥
कर्ण, जीभ, त्वचा, नेत्र, नासिका, मन का तथा—
जीव लेके अधिष्ठान भोगे विषय को सभी ॥ ९ ॥
छोड़ता धरता देह, भोगता गुण-युक्त है।
किन्तु न देखते मूढ़ देखते ज्ञान-चक्षु जो ॥ १० ॥
यत्न द्वारा इसे योगी देखते हृदय-स्थित।
हीन चित्त अशुद्धात्मा यत्न से भी न देखते ॥ ११ ॥
प्रचण्ड सूर्य का तेज विश्व को जो प्रकाशता।
चन्द्र में, अग्नि में तैसे मेरा ही तेज जान लो ॥ १२ ॥

प्रविष्ट पृथिवी में मैं धारता भूत ओज से।
हो रसयुक्त मैं चन्द्र पोषता हूँ वनस्पति ॥ १३ ॥
मैं वैश्वानर-रूपी हो रहके जीव-मात्र में।
पचाता अन्न को [1]चारों अपान-प्राण फूँकके ॥ १४ ॥
निवास मेरा सब के उरों में,
देता स्मृति, ज्ञान, विवेक सर्व।
हूँ वेद्य[2] मैं ही सब वेद-द्वारा,
वेदज्ञ मैं, वेद-रहस्यकर्त्ता ॥ १५ ॥
हैं दो पुरुष लोकों में क्षर तथैव अक्षर।
क्षर हैं सर्व ये भूत, स्थिर अक्षर है कहा ॥ १६ ॥
कहते परमात्मा जो तीसरा पुरुषोत्तम[3]।
पोषे त्रिलोक को व्याप जो अविनाश ईश्वर ॥ १७ ॥
क्षर-अक्षर से हूँ मैं विभिन्न और उत्तम।
अतः वेद तथा लोक कहते पुरुषोत्तम ॥ १८ ॥
हटाके मोह को जाने मुझे जो पुरुषोत्तम।
सर्वज्ञ, पार्थ, सो मुझको भजता सर्व-भाव से ॥ १९ ॥
अत्यन्त गूढ जो शास्त्र निष्पाप, है कहा तुम्हें।
जाने जो बुद्धि को लेके होगा ही कृत-कृत्य सो ॥ २० ॥

---

१ भक्ष्य, चोष्य, लेह्य, पेय। २ जानने योग्य। ३—उत्तम पुरुष

सोलहवाँ अध्याय : दैवी-आसुरी-सम्पत्ति

[इसमें दैवी व आसुरी सम्पत्ति के रूप में उत्तम और अधम पुरुष के लक्षण बताये गये हैं। जिनसे दुर्गुणों को छोड़ने व सद्गुणों को बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है।]

श्रीभगवान्

निर्भयत्व, मनःशुद्धि, व्यवस्था ज्ञान-योग में।
यज्ञ, निग्रह, दातृत्व, स्वाध्याय, ऋजुता, तप ॥ १ ॥
अहिंसा, शान्ति, अक्रोध, अनिन्दा, त्याग,सत्यता,
मृदुता, स्थिरता, लज्जा, भूत-दया, अलालसा ॥ २ ॥
पवित्रता, क्षमा, तेज, धैर्य, अद्रोह, नम्रता,
ये उस्के गुण, जो आता दैवी सम्पत्ति लेकर ॥ ३ ॥
अहन्ता, दम्भ, अज्ञान, क्रोध, दर्प, कठोरता,
मिलते गुण ये उस्को जिस्की सम्पत्ति आसुरी ॥ ४ ॥
दैवी सम्पद् छुड़ाती है आसुरी बाँधती तथा।
न सोचो, क्योंकि आये हो दैवी सम्पत्ति लेकर ॥ ५ ॥
दैवी आसुरी द्विविधा सृष्टि संसृति में सुनो।
विस्तार से कही दैवी, आसुरी कहता अब ॥ ६ ॥
न जानें आसुरी लोग प्रवृत्ति क्या, निवृत्ति क्या ?
न स्वच्छता, न आचार, सत्य को भी न जानते ॥ ७ ॥
कहते, झूठ है विश्व, निराधार, निरीश्वर।
काम-मूलक है सारा, यहाँ न सहकार्य है ॥ ८ ॥

ऐसी स्वीकारके दृष्टि नष्टात्मा ज्ञान-हीन वे।
विश्व के क्षय के अर्थ जन्मते रिपु, हिंसक ॥ ६ ॥
काम दुर्धर के मारे, दम्भी, मानी, मदान्ध जो
दुराग्रही महामूढ़, प्रवृत्त पाप में सदा ॥ १० ॥
अपार करते चिन्ता मरे पै भी न छूटती।
निमग्न काम-भोगों में मानों सर्वस्व है वही ॥ ११ ॥
आशाओं की गले फाँसी, काम-क्रोध-परायण,
भोगार्थ ही अधर्मों से, चाहते धन-सञ्चय ॥ १२ ॥
'आज तो इतना पाया साधूँगा, और लालसा।
'यह है वह भी होगा मेरा ही धन सर्वथा' ॥ १३ ॥
'यह तो शत्रु मारा है, मारूँगा दूसरे अब।
'मैं ईश्वर तथा भोगी, सुखी मैं, सिद्ध मैं, बली' ॥ १४ ॥
'मैं ही कुलीन, श्रीमन्त, कौन है मुझ-सा यहाँ?
'यज्ञ-दान-विलासी मैं' जल्पते अज्ञ, मोह से ॥ १५ ॥
भूले अनेक तर्कों में, फँसे हैं मोह-जाल में।
पड़ेंगे विषयासक्त, नरकों में अ-मंगल ॥ १६ ॥
आत्मश्लाघी, अहम्मन्य, धन-मान-मदान्ध वे।
नाम का करते यज्ञ, दंम्भ से विधि को तज ॥ १७ ॥
बल, दर्प, अहंकार, काम-क्रोधादि से भरे।
मेरा स्व-पर देहों में करते द्रोह मत्सरी ॥ १८ ॥
ऐसे क्रूर तथा द्वेषी जग में जो नराधम।
डालता उन दुष्टों को आसुरी योनि में सदा ॥ १६ ॥

पाके वे जन्म-जन्मों में आसुरी योनि को फिर।
मुझे न मिलके, जाते नीचे को उत्तरोत्तर ॥ २० ॥
काम-क्रोध तथा लोभ मूल हैं आत्मनाश के।
तीनों ये नरक-द्वार, अतः नर तजें इन्हें ॥ २१ ॥
तम के द्वार ये तीनों टालके छूटता, तब-
कल्याण-मार्ग को साध, पाता सो गति उत्तम ॥ २२ ॥
छोड़के शास्त्र का मार्ग स्वेच्छा से लीन भोग में।
न सिद्धि मिलती उसको, न वा सुख, न सद्गति ॥ २३ ॥
अतः प्रमाण है शास्त्र कार्याकार्य-विचार में।
विधान शास्त्र का जान, कर्मों को करते रहो ॥ २४ ॥

सत्रहवाँ अध्याय : गुण से क्रिया-भेद

[तीनों गुणों के प्रभाव से मनुष्य की वृत्तियाँ तथा कार्य कैसे उच्च, मध्यम या हीन कोटि के होते है, इसका इस अध्याय में अच्छा वर्णन किया गया है, जिससे मनुष्य को यह पता लग जाता है कि मैं विकास की किस अवस्था में हूं तथा सात्विक बनने के लिए क्या-क्या करने व क्या-क्या न करने की आवश्यकता है।]

अर्जुन

छोड़ जो शास्त्र का मार्ग श्रद्धा-पूर्वक पूजते।
उनकी सात्विकी निष्ठा राजसी या कि तामसी ? ॥ १ ॥

श्रीभगवान्

पाता स्वभावतः जीव, श्रद्धा तीन प्रकार की--
सात्विकी, राजसी एवं तामसी-सब सो सुनो ॥ २ ॥
स्वभाव जिसका जैसा वैसी श्रद्धा उसे मिले।
श्रद्धा से है बना जीव, श्रद्धा जैसी हुआ वही ॥ ३ ॥
सत्वस्थ पूजते देव यक्ष-राक्षस राजस।
भूत-प्रेत-पिशाचादि पूजते जन तामस ॥ ४ ॥
निषिद्ध शास्त्र से, घोर दम्भ से करते तप।
हो अभिमान से चूर काम-राग-बलाश्रित ॥ ५ ॥
पीड़ते मुझ आत्मा को शोषके देह-धातु को।
ऐसे विवेक-हीनों की निष्ठा लो जान आसुरी ॥ ६ ॥
आहार में सबों के हैं तीन भेद यथा रुचि।
यज्ञ में, तप में, तैसे दान में, सुन लो सभी ॥ ७ ॥
सुख, सत्त्व, रुचि, स्वास्थ्य बढ़ाता बल-आयु को
रसाल, रोचक, स्निग्ध, स्थिर-आहार सात्त्विक ॥ ८ ॥
खारा, खट्टा, कटु, तीखा, रूक्ष, अत्युष्ण, दाहक,
दुःख-शोकद आहार रोग-वर्द्धक राजस ॥ ९ ॥
पड़ा सड़ा तथा बासी, रूखा, दुर्गन्ध-युक्त जो
निषिद्ध और उच्छिष्ट, तामस-प्रिय भोजन ॥ १० ॥
छोड़के फल की आशा मानो कर्त्तव्य है यह-
विधि से मन को जोड़ किया सो यज्ञ सात्त्विक ॥ ११ ॥
रखके फल की इच्छा तथैव दम्भभाव से-
किया जो लोक में जाता जानो सो यज्ञ राजस ॥ १२ ॥

नहीं विधि, नहीं मन्त्र, अन्नोत्पत्ति[1] नहीं जहाँ-
नहीं श्रद्धा, नहीं त्याग, कहा सो यज्ञ तामस ॥ १३ ॥

देव-द्विज-गुरु-ज्ञानी-पूजन, शौच, आर्जव ।
ब्रह्मचर्य, अहिंसा को शरीर तप है कहा ॥ १४ ॥

हितार्थ, प्रेम से पूर्ण, वाचा सत्य, चुभे न जो ।
स्वाध्याय करना नित्य, वाणी का तप है कहा ॥ १५ ॥

प्रसन्न-वृत्ति, सौम्यत्व, आत्मचिन्तन, संयम ।
भावना रखना शुद्ध, मन का तप है कहा ॥ १६ ॥

योग से, तीव्र श्रद्धा से तीनों ही तप जो करे ।
रक्खे न फल की आशा उसे सात्विक जान लो ॥ १७ ॥

सत्कार-मान-पूजार्थ तप जो दम्भ से किया ।
तप सो राजसी जानो वह चञ्चल, अस्थिर ॥ १८ ॥

सही है मन ने पीड़ा जो दुराग्रह-पूर्वक ।
अथवा पर-नाशार्थ जानो तामस सो तप ॥ १९ ॥

उपकार-अनिच्छा से देखके देश-काल वा—
पात्र को धर्म-भावों से, दिया सो दान सात्विक ॥ २० ॥

उपकार-अपेक्षा से अथवा फल चाहके ।
क्लेश-पूर्वक जो दान दिया सो दान राजस ॥ २१ ॥

करके भावना तुच्छ देश-काल न देखके ।
बिना सत्कार के देना जानो सो दान तामस ॥ २२ ॥

ब्रह्म-निर्देश 'ॐ तत् सत्' हुआ तीन प्रकार से—
उसीसे आदि में पैदा वेद यज्ञ, उपासक[2] ॥ २३ ॥

१—अनाज के पैदा करने में भाग । २ ब्राह्मण ।

अतः पहले ॐ कार उच्चारके उपासक ।
करे नित्य विधानोक्त यज्ञ, दान, तप-क्रिया ॥ २४ ॥
'तत्' का ले नाम मोक्षार्थी फलेच्छा सर्व छोड़के ।
नाना यज्ञ तथा दान तपादि करता सदा ॥ २५ ॥
'सत्'कार अर्थ में आते सत्यता और साधुता ।
सुन्दर कर्म में तैसे 'सत्' कार है कहा गया ॥ २६ ॥
तप, यज्ञ तथा दान या तत् साधक कर्म जो
उनमें स्थिति हो नित्य सो भी है 'सत्' कहा गया ॥ २७ ॥
अश्रद्धा से किया जो भी यज्ञ, दान तपादिक ।
असत् वे सब हैं पार्थ उभय-लोक निष्फल ॥ २८ ॥

अठारहवां अध्याय : गुण-परिणाम तथा उपसंहार

[इसमें गुण-परिणाम से त्याग, कर्त्ता, ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति के तीन तीन भेद बताये गये हैं। मनुष्य की कार्य-सिद्धि में पाँच कारण हुआ करते हैं, यह बताकर चारों वर्णों के धर्म कहे गये हैं और स्वभाव-सिद्ध या सहज-प्राप्त कर्म करने पर जोर दिया है। अर्जुन से भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि यदि भक्ति से लौ लगाकर मेरा ही भजन-पूजन करते रहोगे तो अवश्य मुझे मिलोगे। यह आश्वासन भी दिया है कि यदि समत्व-बुद्धि से मुझमें मन लगाओगे तो मेरी कृपा से सब भयों से तर जाओगे। अन्त में अर्जुन ने भगवान् के इस सारे उपदेश के प्रभाव-स्वरूप यह स्वीकार किया है कि मेरा मोह अब नष्ट हो गया है, मैं लड़ने को तैयार हूं और जो

आप कहेंगे वही करूँगा । यहां भगवान् व गीताकार का उद्देश्य सफल हो जाता है ।]

अर्जुन

क्या है संन्यास का तत्व, तथा क्या तत्व त्याग का ?
जानना चाहता हूँ मैं कृष्ण, बताओ स्पष्ट सो मुझे ॥ १ ॥

श्रीभगवान्

छोड़ना काम्य कर्मों का ज्ञानी 'संन्यास' मानते ।
फल समस्त कर्मों का त्यागना 'त्याग' है कहा ॥ २ ॥
'हैं दोषरूप ये कर्म त्याज्य' यों कहते कई ।
अत्याज्य कहते कोई यज्ञ, दान, तप-क्रिया ॥ ३ ॥
इनमें है, सुनो, तोभी, मेरा निश्चित निर्णय ।
त्याग है जो कहा जाता उसके तीन भेद हैं ॥ ४ ॥
यज्ञ, दान, तपःकर्म—नित्य कर्त्तव्य निश्चित ।
नहीं छोड़ें इन्हें, ये तो पावक ज्ञानवान को ॥ ५ ॥
फल-आसक्ति को छोड़ किन्तु ये पुण्य-कर्म भी
करना योग्य है—मेरा यह उत्तम निर्णय ॥ ६ ॥
जो भी नियत है कर्म उसका न्यास न योग्य है ।
किन्तु जो मोह से छोड़ा त्याग तामस है कहा ॥ ७ ॥
दुःखद मानके, काया-कष्ट के भय से तजा—
कर्म, सो राजसी त्याग, न देता कुछ भी फल ॥ ८ ॥
किया नियत जो कर्म कर्त्तव्य मानके सदा ।
ममत्व, फल को छोड़ त्याग सो मान्य सात्विक ॥ ९ ॥

जो शुभाशुभ कर्मों में राग-द्वेष न जानता।
सो त्यागी सत्व से युक्त ज्ञान से छेद संशय ॥ १० ॥
अशक्य देहवानों को सर्वथा कर्म छोड़ना।
अतः जो फल का त्यागी सो है त्यागी कहा गया ॥ ११ ॥
तीन हैं फल कर्मों के अनिष्ट, इष्ट, मिश्रित,
मिलें ये त्याग-हीनों को, संन्यासी को नहीं कभी ॥ १२ ॥
सुन लो मुझसे सारा ज्ञानी का कर्म-निर्णय।
सांख्य में सिद्धि के तो हैं बताये पाँच कारण ॥ १३ ॥
अधिष्ठान, अहङ्कार, तथा विविध साधना।
भिन्न-भिन्न क्रिया नाना, दैव त्यों पाँचवाँ कहा ॥ १४ ॥
मनसा, कर्मणा, वाचा, जो कुछ भी करे नर।
अधर्म-धर्म का कार्य उसके ये पाँच कारण ॥ १५ ॥
फिर भी निज को ही जो कर्त्ता मानके रहा।
संस्कार-हीन सो मूढ जाने तत्व न दुर्मति ॥ १६ ॥
नहीं जिसे अहंभाव, बुद्धि में लिप्तता नहीं।
मार के विश्व को भी सो न मारे, न बँधे कभी ॥ १७ ॥
ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान—कर्म के तीन बीज हैं।
क्रिया, करण, कर्तृत्व, कहे कर्माङ्ग तीन ये ॥ १८ ॥
ज्ञान, त्यों कर्म, कर्त्ता में गुणों से तीन भेद हैं—
बताये सांख्यवालों ने उन्हें सुन यथार्थ लो—॥ १९ ॥
देखता सर्वभूतों में भाव एक सनातन।
अभिन्न भेद-युक्तों में जानो सो ज्ञान सात्विक ॥ २० ॥

पोषके भेद-भावों को देखता सर्वभूत में
जो भिन्न-भिन्न भावों को जानो सो ज्ञान राजस ॥ २१ ॥
एक ही देह में मान सर्वस्व, जो फँसा वृथा—
भावार्थ-हीन, है क्षुद्र, जानो सो ज्ञान तामस ॥ २२ ॥
नियुक्त कर्म निष्काम-भाव से संग छोड़के।
शून्य हो राग-द्वेषों से किया सो कर्म सात्विक ॥ २३ ॥
मन में कामना रक्खे, या अहङ्कार-पूर्वक,
बड़े आयास से साधा, कहा सो कर्म राजस ॥ २४ ॥
फल को, हानि,-हिंसा को, सामर्थ्य को न सोचके-
मोह से ही शुरू जो है किया, सो कर्म तामस ॥ २५ ॥
निस्संग, निरहंकार, धैर्य-उत्साह-मण्डित,
असिद्धि-सिद्धि में साम्य—कर्त्ता सात्विक सो कहा ॥ २६ ॥
फल-कामुक, आसक्त, लोभी, अस्वच्छ, हिंसक,
मारा जो हर्ष-शोकों का कर्त्ता राजस सो कहा ॥ २७ ॥
स्वच्छन्दी, क्षुद्र, गर्विष्ठ, घातकी, शठ, आलसी,
दीर्घ-सूत्री, सदा खिन्न, कर्त्ता तामस सो कहा ॥ २८ ॥
बुद्धि के तीन हैं भेद, तथैव धृति-भेद हैं—
गुणानुसार जो सारे कहूँ सो मैं पृथक्पृथक् ॥ २९ ॥
बन्ध-भय अकार्यों से, कार्यों से मोक्ष-निर्भय
छोड़ना-साधना जाने बुद्धि सो पार्थ सात्विकी ॥ ३० ॥
अ-कार्य-कार्य का रूप, तथा धर्म-अधर्म क्या,
नहीं जान सके ठीक—बुद्धि सो पार्थ, राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्म मानती धर्म, घिरी जो अन्धकार से।
अर्थ जो उलटा देखे बुद्धि सो पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥
चलाती सबकी जो है मन-प्राणेन्द्रिय-क्रिया।
निष्ठा से, समता युक्त, धृति सो पार्थ सात्विकी ॥ ३३ ॥
धर्मार्थ-काम सारे ही चलाती संग-पूर्वक।
फलाशा में डुबोती जो, पार्थ, सो धृति राजसी ॥ ३४ ॥
निद्रा, भय न छोड़े जो शोक, खेद तथा मद।
बुद्धि को करती दुष्ट सो धृति पार्थ, तामसी ॥ ३५ ॥
अब मैं कहता तीन विधि का सुख, जान लो—
हर्ष अभ्यास से होता दिखाता दुख-अन्त है ॥ ३६ ॥
आदि में विष-सा जो हो, अन्त में हो सुधासम।
आत्मा में बुद्धि से शुद्ध मिला, सो सुख सात्विक ॥ ३७ ॥
आदि में लगता मीठा, अन्त में विष मारक।
इन्द्रियाँ-विषयोत्पन्न वह है सुख राजस ॥ ३८ ॥
निद्रा, प्रमाद, आलस्य, इनसे घेर मोहता—
आत्मा को, आदि में तैसे अन्त में, सुख तामस ॥ ३९ ॥
यहां पृथ्वी तथा स्वर्ग अथवा देव-जाति में
प्रकृति के गुणों से है कोई मुक्त कहीं नहीं ॥ ४० ॥
ब्राह्मणादिक वर्णों के बाँटे हैं कर्म भिन्नतः।
स्वभाव-सिद्ध जो जिन्के गुण हैं देखके उन्हें ॥ ४१ ॥
शान्ति, क्षमा, तप, श्रद्धा, ज्ञान, विज्ञान, निग्रह,
ऋजुता और पावित्र्य ब्रह्मकर्म स्वभावतः ॥ ४२ ॥

शौर्य, धैर्य, प्रजा-रक्षा, युद्ध से अ-पलायन ।
दातृत्व, दक्षता, तेज क्षात्रकर्म स्वभावतः ॥ ४३ ॥
कृषि, वाणिज्य, गो-रक्षा, वैश्यकर्म स्वभावतः ।
सेवा सकल वर्णों की शूद्र कर्म स्वभावतः ॥ ४४ ॥
जो जो स्वकीय कर्मों में दक्ष सो सिद्धि साधते ।
रत होके स्वकर्मों में—कैसे, सो मुझसे सुनो ॥ ४५ ॥
प्रेरता सर्वभूतों को, जिसका विस्तार विश्व है,
उसे स्वकर्म से पूज पाता मानव सिद्धि को ॥ ४६ ॥
न्यून भी अपना धर्म भला है परधर्म से ।
स्वभाव-सिद्ध जो कर्म करे सो दोष-वर्जित ॥ ४७ ॥
सहज-प्राप्त जो कर्म न छोड़ो हो सदोष भी,
दोष तो सर्व कर्मों में अग्नि में धूम-सा रहा ॥ ४८ ॥
असक्त बुद्धि सर्वत्र, जितात्मा, मन निस्पृह,
सो नैष्कर्म्य-परं सिद्धि पाता संन्यास साधके ॥ ४९ ॥
जो सिद्धि-प्राप्त सो कैसे पाता है ब्रह्म को फिर ?
ज्ञान की श्रेष्ठ निष्ठा सो थोड़े में मुझसे सुनो ॥ ५० ॥
बुद्धि सात्त्विक के द्वारा धृति की डोर खींचके ।
शब्दादि-स्पर्श[१] को टाल, मार के राग-द्वेष को—॥ ५१ ॥
जीत के मन, वाक्, काया, एकाकी, अल्प-भोजक,
दृढ़ वैराग्य को धार, डूबा है ध्यान-योग में-॥ ५२ ॥
बल, दर्प, अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह,
ममता छोड़ जो शान्त होता है ब्रह्म-योग्य सो ॥ ५३ ॥

[१] विषय ।

ब्रह्म-निष्ठ, प्रसन्नात्मा, नहीं सोच न कामना,
पाता मेरी पराभक्ति देखे सर्वत्र साम्य जो ॥ ५४ ॥
भक्ति से तत्वतः जाने हूँ कैसा, और कौन मैं ?
तत्वतः मुझको जान मुझमें आ मिले सही ॥ ५५ ॥
करके सब ही कर्म सदा, हो मत्परायण,
पाता मेरी कृपा से सो पद अक्षय, शाश्वत ॥ ५६ ॥
मत्पर हो मुझे सर्व कर कर्म समर्पित ।
समत्व-बुद्धि को साध लगाओ मुझमें मन ॥ ५७ ॥
तो सभी भय से मेरी कृपा से तर जावगे ।
मानोगे न अहन्ता से, तो पाओगे विनाश ही ॥ ५८ ॥
कहोगे जो अहन्ता से 'लडूँगा इनसे नहीं !'
तो स्वभाव करावेगा तुम्हारा व्यर्थ निश्चय ॥ ५९ ॥
स्वभाव-सिद्ध कर्मों से अपने हो बँधे हुए ।
मोह से टालना चाहो, करोगे बाध्य हो सही ॥ ६० ॥
रहा है सर्वभूतों के उर में परमेश्वर ।
घुमाता सब माया से मानो हैं यन्त्र पै चढ़े ॥ ६१ ॥
उसीकी सर्व भावों से जाओ शरण तो मिले—
कृपा से उसकी श्रेष्ठ शान्ति का स्थान शाश्वत ॥ ६२ ॥
यह जो गूढ़-से-गूढ़ ज्ञान है तुमसे कहा—
ध्यान में लो भली भाँति, इच्छा जो हो वही करो ॥ ६३ ॥
गूढ़-से-गूढ़ जो श्रेष्ठ मेरा वचन सो पुनः—
हितार्थ कहता हूँ मैं, मुझे हो अति ही प्रिय ॥ ६४ ॥

भक्ति से लौ लगा मेरी मुझे पूजो, मुझे नमो।
प्यारे, मुझे मिलोगे आ, प्रतिज्ञा सत्य मान लो ॥ ६५ ॥
छोड़के सब धर्मों को मेरी शरण एक लो।
पापों से मैं छुड़ा दूँगा सारे, सोच करो नहीं ॥ ६६ ॥
जो अभक्त, तपोहीन, जो करे मम मत्सर।
सुनना जो नहीं चाहे, उसे न कहना कभी ॥ ६७ ॥
मेरे परमभक्तों से कहेगा श्रेष्ठ मर्म जो।
सो पराभक्ति से मेरी मिलेगा मुझको सही ॥ ६८ ॥
उससे अधिक कोई भी प्रियकर्त्ता नहीं मम।
प्रिय मुझे नहीं कोई उससे श्रेष्ठ विश्व में ॥ ६९ ॥
हमारा धर्म-संवाद करेगा पाठ नित्य जो—
सो ज्ञान-यज्ञ से मेरी पूजा है करता सही ॥ ७० ॥
जो केवल सुनेगा भी श्रद्धा से द्वेष छोड़के—
छूटके कर्म-पूतों की पावे सो शुभ सद्गति ॥ ७१ ॥
एकाग्र चित्त से पार्थ, सुना तो तुमने सब ?
मोह अज्ञान-रूपी तो सारा है न चला गया ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन

मिटा है मोह, तो देव, कृपा से स्मृति भी मिली;
हो गया अब निःशंक, करूँगा सब जो कहो ॥ ७३ ॥

संजय

कृष्णार्जुन महात्मा का सुना मैंने महीपते !
ऐसा अद्भुत संवाद, नाचता रोम-रोम है ॥ ७४ ॥

यह

ग्र से ॥ ७५ ॥

सो कृष्णार्जुन [illegible] पावन ।
सुनके जिसको होता हर्ष है बारबार ही ॥ ७६ ॥
फिर-फिर-करके याद हरि-का रूप अद्भुत ।
राजा, विस्मित हो-हो मैं हर्षता हूं पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
जहां योगेश्वर कृष्ण, जहां पार्थ धनुर्धर ।
तहां मैं देखता नित्य—धर्म, श्री, जय, वैभव ॥ ७८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता का समश्लोकी 'हिन्दी-गीता' नामक
भाषान्तर समाप्त ।

शब्दार्थ

अध्याय १

आततायी=अत्याचारी। प्रतिकार=मुकाबला। व्यूह= मोर्चा। संकर= मिश्रण, मिलावट।

अध्याय २

अचिन्त्य= जिसका चिन्तन, ध्यान न किया जा सके। अच्युत= जिसका पतन, गिरावट न हो। अज= जिसका जन्म न हुआ हो। अर्थ= धन, विषय, साधन। अनासक्त= जिसे आसक्ति, मोह, लिप्तता न हो, जो किसी में फँसा न हो। अनित्य= अस्थायी, कायम न रहने वाला। अप्रमेय= प्रमाण से परे, जो समझ में न आवे, बुद्धि से ऊपर। अव्यक्त= अप्रकट। अव्यय= निर्विकार, जिसमें कुछ विगाड़ या क्षय न हो। आरम्भ= कार्य का, कर्म का आरम्भ। काम= हेतु, इच्छा, वासना, लालसा। गुडाकेश= जटा-जूट वाला, अर्जुन। त्रैगुण्य= सत्व, रज, तम, प्रकृति के तीन गुण। देही= आत्मा, जीव, देहवान, जीवात्मा। दैन्य= दीनता, असहाय अवस्था, लाचारी। निर्वाण= मुक्ति, मोक्ष। निर्योग-क्षेम= सांसारिक सुख और स्वर्ग या मोक्ष की इच्छा न रखना। पुराण= प्राचीन, पुराना। प्रस्तार= विस्तार, फैलाव। प्रज्ञा= सूक्ष्म बुद्धि, प्रतिभा। भूत= जीव, संसार के पदार्थ मात्र, पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश। भंगुर= अस्थायी, चन्दरोजा। राग= आसक्ति, संग, मोह, फँसाव। विषय= भोग के हेतु या साधन। शाश्वत= चिरस्थायी, सदा टिकने-वाला। संग=आसक्ति, मोह। सम्भावित=मान-धनी, प्रतिष्ठित। स्वर्ग-

कामुक= स्वर्ग की इच्छा रखने वाला। स्वभाव= मूलवृत्ति, असली रंग। सांख्य-योग= ज्ञानयोग, पुरुष प्रकृति दो तत्त्वों को मानने का सिद्धान्त।

अध्याय ३

अनुवर्तन= अनुकरण, नकल। इन्द्रियाराम= इन्द्रिय-सुख में लीन, भोग में मग्न। निग्रह= संयम। निष्ठा= स्थिति, स्थान। नैष्कर्म्य= कर्महीनता, अकर्मता। यज्ञशेष= यज्ञ का प्रसाद। यज्ञार्थ= निःस्वार्थभाव से, परोपकार-बुद्धि से। रति= अनुराग, प्रेम, लगन। लोकसंग्रह= लोक-सेवा। श्रेय= आत्म-प्राप्ति। संन्यास= त्याग, छोड़ना। सिद्धि= मोक्ष, सफलता।

अध्याय ४

अपान =अधोवायु, गुदा की तरफ जानेवाली हवा। प्राण = प्राण-वायु। मद्भाव =मेरा भाव, मेरा रूप।

अध्याय ५

ब्रह्मनिष्ठ =आत्म-स्वरूप, पहुंचा हुआ। भव =जन्म, संसार। स्वैर-वृत्ति= स्वच्छन्दता, उच्छृङ्खलता।

अध्याय ६

अतीन्द्रिय= इन्द्रियों से परे। अद्वैत= अभेद। आरूढ= स्थित, चढा हुआ। दुःखहा= दुख को मिटानेवाला। द्वेष्य= द्वेष करने योग्य। निरोध= संयम, निग्रह। नियमन=रोकना। पयोद= बादल। बुद्धिग्राह्य=मानसिक, बुद्धि से ग्रहण करनेयोग्य। मच्चित्त=मुझमें लौ

लगाए हुए। मत्परायण = मुझमें डूबे हुए। योनता = साधता, साम्ययोग = समता-भाव।

अध्याय ७

गुणातीत = गुणों से परे। परंभाव = ब्रह्मभाव, ईश्वर-रूप।

अध्याय ८

अनन्यचित्त = एक ही में चित्त को लगाए हुए, एक-निष्ठ। अनादि = जिसका मूल या आरम्भ न हो। उत्तरायण = जब सूर्य उत्तर की ओर हो। कवि = महापुरुष। दक्षिणायन = जब सूर्य दक्षिण की ओर हो। धाता = ब्रह्मा, सृष्टिकर्त्ता। दुःखालय = दुःख का घर। ब्रह्माण्ड = संसार; सिर के ऊपर का भाग। शास्ता = शासक, नियामक।

अध्याय ९

आसुरी सम्पत्ति = दुर्गुण, बुराइयाँ। कल्पान्त = प्रलय। दैवी सम्पत्ति = सद्गुण, अच्छाइयां। योग-क्षेम = लोक-परलोक का सुख, प्राप्त की रक्षा व अप्राप्त की प्राप्ति। राजविद्या = श्रेष्ठ विद्या। सोम = आर्यों और देवताओं के पीने का एक उत्तेजक रस।

अध्याय १०

अक्षय्य = जो कम न हो सके। अश्वत्थ = बड़ या पीपल का पेड़। नक्र = घड़ियाल, मगर। विराट् = महान्, विशाल। श्वापद = जंगली जानवर। सेनानी = सेनापति।

अध्याय ११

अन्तराल = धरती व आकाश के बीच का पोल। अश्विनी-

कुमार=देवताओं के वैद्य। आयुध=शस्त्रास्त्र, हथियार। प्रचुर=बहुत बड़ा। युक्त=सम-भाव से युक्त। लोकान्तक=संसार का विनाशक। सज्ज=तैयार, सज्जित। ज्ञेय=जानने योग्य, जिसे जानना है।

अध्याय १३

अनुज्ञाता=अनुमति देनेवाला। अमृतत्व=मोक्ष,अमरता। अविभक्त=न बँटा हुआ, भेद-रहित। ऋजुता=सरलता। कर्त्तृत्व=कर्त्तापन, करतब। कारण=साधन, प्रयोजन, हेतु। कार्य=फल, परिणाम। चराचर=जड-चेतन, चल-अचल। जंगम=चल। भर्त्ता=पोषक, धारण करनेवाला। निरिन्द्रिय=जिसे इन्द्रिय नहीं है। बाह्यान्तर=बाहर-भीतर। भोक्तृत्व=भोक्तापन। विधान=व्यवस्था। सायुज्य=एक प्रकार की मुक्ति, ईश्वरमय हो जाने की अवस्था।

अध्याय १४

उदासीन=तटस्थ। त्रय=तीन। त्रिगुणातीत=तीनों गुणों से परे। निवृत्ति=हटना, काम छोड़ने की वृत्ति। निसर्गतः=स्वाभाविक रूप से। प्रमाद=भूल, गफलत। सर्ग=सृष्टि का आरम्भ।

अध्याय १५

अधिष्ठान=सहारा, आधार। गुण=प्रकृति के तीन गुण, सत्व, रज, तम। प्रविष्ट=घुसकर। प्राज्ञ=प्रज्ञावान्। वैश्वानर=एक अग्नि। स्फुरिता=फुरी, पैदा हुई।

अध्याय १६

अहम्मन्य=अपने को बड़ा माननेवाला, घमण्डी। आत्म-

श्लाघी=अपनी बड़ाई खुद करनेवाला । उत्तरोत्तर=क्रम से आगे-ही-आगे। जल्पते=बकते । दातृत्व=दान, दानशीलता । द्विविधा=दो तरह की। दुर्धर=कठिन, विकट। निरीश्वर=ईश्वर को न माननेवाला। व्यवस्था=निश्चय, स्थिरता।

अध्याय १७

अत्युष्ण=बहुत गरम। उच्छिष्ट=जूठन । निर्देश=संकेत, नाम। निषिद्ध=मना किया हुआ, वर्जित । बलाश्रित=बल से पूर्ण, प्रभावित। रूक्ष=रूखा। विधानोक्त=विधान में कहा हुआ।

अध्याय १८

अनिष्ट=अवांछनीय, बुरा। अपलायन=न भागना। अल्प-भोजक=थोड़ा खानेवाला। आयास=दौड़धूप। काम्य=कामना-वासनायुक्त । दीर्घसूत्री=सुस्त, हर काम में देर करनेवाला। धृति=धीरता। नियुक्त=नियमित, नियत। पराभक्ति=ऊँचे दरजे की भक्ति, ईश्वर के पर-स्वरूप में भक्ति।